(१) स्वस्यानीशत्वबाधेन भक्तिश्रद्धे दृढीकृते ।
धीहेतुः कर्मनिष्ठा च हरिणेहोपसंहृता ॥ १ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां ब्रह्मार्पणयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

सम्बोधनसे यह भाव है कि भरतवंशमें उत्पन्न हुए तुम्हारा युद्धका उद्योग निष्फल नहीं होगा ॥ ४२ ॥

(१) यहाँ भगवान्‌ने अपनी अनीश्वरताका बाध करके भक्ति और श्रद्धाकी पुष्टि की है तथा ज्ञानकी हेतुभूता कर्मनिष्ठाका उपसंहार किया है ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीयपादशिष्य श्रीमधुसूदन-सरस्वतीविरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका टीकाके हिन्दीभाषान्तरका ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

(१) अध्यायाभ्यां कृतो द्वाभ्यां निर्णयः कर्मबोधयोः ।
कर्मत्यागयोर्द्वाभ्यां निर्णयः क्रियतेऽधुना ॥

(२) तृतीयेऽध्याये 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' इत्यादिनाऽर्जुनेन पृष्टो भगवाञ्ज्ञानकर्मणो-र्विकल्पसमुच्चयासंभवेनाधिकारिभेदव्यवस्थया 'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया' इत्यादिना निर्णयं कृतवान् । तथा चाज्ञाधिकारिकं कर्म न ज्ञानेन सह समुच्चीयते तेजस्तिमिरयोरिव युगपद-संभवात्कर्माधिकारहेतुभेदबुद्ध्यपनोदकत्वेन ज्ञानस्य तद्विरोधित्वात् । नापि विकल्प्यते, एकार्थत्वा-भावात्, ज्ञानकार्यस्याज्ञाननाशस्य कर्मणा कर्तुमशक्यत्वात् 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेः । ज्ञाने जाते तु कर्मकार्यं नापेक्ष्यत एवेत्युक्तं 'यावानर्थ उदपाने' इत्यत्र । तथा च ज्ञानिनः कर्मानधिकारे निश्चिते प्रारब्धकर्मवशाद्वृथाचेष्टारूपेण तदनुष्ठानं वा सर्वकर्मसंन्यासो वेति निर्विवादं चतुर्थे निर्णीतम् । अज्ञेन त्वन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तये कर्माण्यनुष्ठेयानि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुतेः, 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इति भगवद्वचनाच्च । एवं सर्वकर्माणि ज्ञानार्थानि ।

(संन्यासयोग)

(१) गत दो अध्यायोंसे कर्म और ज्ञानका निर्णय किया गया है, अब दो अध्यायोंसे कर्म और उसके त्याग (कर्मसंन्यास)का निर्णय किया जाता है ।

(२) तीसरे अध्यायमें 'ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते' इत्यादि श्लोकद्वारा अर्जुनसे पूछे जानेपर श्रीभगवान्‌ने ज्ञान और कर्मका विकल्प अथवा समुच्चय न हो सकनेके कारण 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ' इत्यादि श्लोकोंद्वारा अधिकारिभेदसे व्यवस्था करते हुए उनका निर्णय किया था । अतः जिसका अधिकारी अज्ञानी पुरुष है उस कर्मका ज्ञानके साथ समुच्चय नहीं हो सकता, क्योंकि कर्मके अधिकारकी हेतुभूता भेदबुद्धिका निवर्त्तक होनेके कारण ज्ञान कर्मका विरोधी है, अतः प्रकाश और अन्धकारके समान वे एक साथ नहीं रह सकते । इसी प्रकार उनका विकल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि उन दोनोंका एक ही प्रयोजन नहीं है—ज्ञानका कार्य जो अज्ञाननाश है वह कर्मसे हो ही नहीं सकता । 'उसे ही जानकर पुरुष मृत्युके पार हो जाता है, मोक्ष-प्राप्तिके लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है' इस श्रुति से यही सिद्ध होता है । ज्ञान उत्पन्न होनेपर तो कर्मके कार्यकी अपेक्षा ही नहीं रहती—यह बात 'यावानर्थ उदपाने' (२।४६) इस स्थानपर कही है । इस प्रकार कर्ममें ज्ञानीका अधिकार नहीं है—यह निश्चित होनेपर वह प्रारब्धकर्मवश भले ही वृथा चेष्टारूपसे उन्हें करता रहे अथवा समस्त कर्मोंका त्याग कर दे—यह बात निर्विवाद रूपसे चौथे अध्यायमें निर्णय की गयी है । अज्ञानी पुरुषको तो अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये कर्मोंका अनुष्ठान करना ही चाहिये; जैसा कि 'उस इस ब्रह्मको ब्राह्मण लोग वेदोंके स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप और उपवासके द्वारा जानना चाहते हैं' इस श्रुतिसे और 'हे अर्जुन ! सारे श्रौत और स्मार्त्त कर्म ज्ञानमें ही समाप्त होते हैं' इस भगवान्‌के वाक्यसे सिद्ध होता है । इस प्रकार समस्त कर्म ज्ञानके लिये हैं और समस्त कर्मोंका संन्यास भी ज्ञानके ही लिये है—यह बात 'इसी आत्मलोककी इच्छा करते हुए

तथा सर्वकर्मसंन्यासोऽपि ज्ञानार्थः श्रूयते—'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति', 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्', 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्', 'सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्' इत्यादौ।

(१) तत्र कर्मतत्त्यागयोरारादुपकारकसंनिपत्योपकारकयोः प्रयाजावघातयोरिव न समुच्चयः संभवति विरुद्धत्वेन यौगपद्याभावात्। नापि कर्मतत्त्यागयोरात्मज्ञानमात्रफलत्वेनैकार्थत्वादतिरात्रयोः षोडशिग्रहणाग्रहणयोरिव विकल्पः स्यात्, द्वारभेदेनैकार्थत्वाभावात्। कर्मणो हि पापक्षयरूपमदृष्टमेव द्वारं, संन्यासस्य तु सर्वविक्षेपाभावेन विचारावसरदानरूपं दृष्टमेव द्वारं, नियमापूर्वं तु दृष्टसमवायित्वादवघातादाविव न प्रयोजकम्। तथा चादृष्टार्थदृष्टार्थयोरारादुपकारकसंनिपत्योपकारकयोरेकप्रधानार्थत्वेऽपि विकल्पो नास्त्येव, प्रयाजावघातादीनामपि तत्प्रसङ्गात्। तस्मात्क्रमेणोभयमप्यनुष्ठेयम्। तत्रापि संन्यासानन्तरं कर्मानुष्ठानं चेत्तदा परित्यक्तपूर्वाश्रमस्वीकारेणाऽऽरूढपतितत्वात्कर्मानधिकारित्वं प्राक्तनसंन्यासवैयर्थ्यं च तस्यादृष्टार्थत्वाभावात्। प्रथमकृतसंन्यासेनैव ज्ञानाधिकारलाभे तदुत्तरकाले कर्मानुष्ठानवैयर्थ्यं च। तस्मादादौ भगवदर्पणबुद्धया निष्कामकर्मानुष्ठानादन्तःकरणशुद्धौ तीव्रेण

संन्यासी लोग संन्यास लेते हैं', 'शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधानसे युक्त होकर अपने अन्तःकरणमें ही आत्माका साक्षात्कार करे', 'त्याग करनेवाले पुरुषको ही उसके प्रत्यगात्मस्वरूप परमपदका ज्ञान हो सकता है', 'सत्य-असत्य, सुख-दुःख, वेद तथा यह लोक और परलोक—इन सबका त्याग करके आत्मानुसन्धान करे' इत्यादि श्रुतियों में कही गयी है।

(१) अतः आरात् उपकारक प्रयाज और सन्निपत्य उपकारक अवघातके समान कर्म और कर्मसंन्यासका समुच्चय होना सम्भव नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध होनेके कारण ये एक साथ नहीं रह सकते। तथा अतिरात्र के उद्देश्यसे किये जानेवाले षोडशीके ग्रहण और अग्रहणके समान कर्म और उसके त्यागका भी आत्मज्ञानमात्र फल होनेसे एक ही प्रयोजन होनेपर भी उनका विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि द्वारभेद होनेके कारण उनकी एकार्थता नहीं है। कर्मका तो पापक्षयरूप अदृष्ट ही द्वार है, किन्तु संन्यासका तो समस्त विक्षेपोंके अभाव द्वारा विचारके लिये अवसर देनारूप दृष्ट ही द्वार है। अवघातादिके समान नियमापूर्व भी कर्मका प्रयोजक नहीं है, क्योंकि वह तो दृष्टफलके साथ रहनेवाला है[2]। अतः अदृष्ट प्रयोजनवाला आरात् उपकारक कर्म और दृष्ट प्रयोजनवाला सन्निपत्य उपकारक कर्मत्याग—ये दोनों ज्ञानोत्पादन रूप एक प्रधान प्रयोजनके लिये होनेपर भी इनमें विकल्प नहीं हो सकता; नहीं तो प्रयाज और अवघातादिमें भी विकल्प होनेका प्रसङ्ग उपस्थित होगा। अतः इन दोनोंका ही क्रमशः अनुष्ठान करना चाहिये। इसमें भी यदि कहो कि संन्यासके पीछे कर्मोंका अनुष्ठान किया जाय तो त्यागे हुए पूर्व आश्रमका स्वीकार

१. जिन कर्मोंका प्रधान कर्मके अङ्गभूत द्रव्यादिके उद्देश्यसे विधान किया जाता है वे 'सन्निपत्य उपकारक' कहलाते हैं, जैसे अवघात (मूसलसे कूटना) का विधान कर्मके अङ्गभूत धानोंके संस्कारके लिये ही किया गया है। इसके विपरीत जिन कर्मोंका प्रधान कर्मके अङ्गोंसे कोई सम्बन्ध नहीं होता, जो स्वतन्त्ररूपसे उसके उपकारक होते हैं वे आरादुपकारक कहे जाते हैं।

२. अवघातादि नियमविधि तुषविदलनरूप दृष्ट फलके सहित ही अपूर्व रूप अदृष्ट फलका जनक होती है। कर्मसे ऐसा कोई दृष्ट फल नहीं होता, इसलिये नियमापूर्व इसका प्रयोजक नहीं है।

वैराग्येण विविदिषायां दृढायां सर्वकर्मसंन्यासः श्रवणमननादिरूपवेदान्तवाक्यविचाराय कर्तव्य इति भगवतो मतम्। तथा चोक्तम्—'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' इति। वक्ष्यते च—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥' इति।

योगोऽत्र तीव्रवैराग्यपूर्विका विविदिषा। तदुक्तं वार्तिककारैः—

'प्रत्यग्विविदिषासिद्ध्यै वेदानुवचनादयः। ब्रह्मावाप्त्यै तु तत्त्याग ईप्सन्तीति श्रुतेर्बलात्॥' इति। स्मृतिश्च—'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते॥' इति। मोक्षधर्मे च—'कषायं पाचयित्वा च श्रेणीस्थानेषु च त्रिषु। प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम्॥

भावितः करणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु। आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे॥

तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः। त्रिष्वाश्रमेषु को न्वर्थो भवेत्परमभीप्सतः॥' इति।

(१) मोक्षं वैराग्यम्। एतेन क्रमाक्रमसंन्यासौ द्वावपि दर्शितौ। तथा च श्रुतिः—'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इति।

करनेसे आरूढपतित होनेके कारण फिर तो कर्मका अधिकार ही नहीं रहता और इस तरह पहले किया हुआ संन्यास भी व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि उसका कोई अदृष्ट प्रयोजन नहीं है। इसके सिवा जब पहले किये हुए संन्याससे ही ज्ञानका अधिकार प्राप्त हो जाता है तो उसके पीछे कर्मोंका अनुष्ठान करना व्यर्थ ही है। अतः पहले भगवदर्पण बुद्धिसे निष्काम कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे जब अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर तीव्र वैराग्यसे जिज्ञासा पक जाय तो श्रवण-मननादिरूप वेदान्त-विचार करनेके लिये समस्त कर्मोंका त्याग करना चाहिये—ऐसा भगवान्का मत है। ऐसा ही भगवान्ने कहा भी है—'कर्मोंका प्रारम्भ बिना किये पुरुष नैष्कर्म्यको प्राप्त नहीं कर सकता' तथा आगे कहेंगे भी कि 'योगारूढ होनेकी इच्छावाले मुनिके लिये कर्मयोग साधन है और योगारूढ हो जानेपर उसके लिये शम ही साधन कहा जाता है।' यहाँ 'योग' शब्दका अर्थ तीव्रवैराग्यपूर्विका जिज्ञासा है। इस विषयमें वार्तिककार ऐसा कहते हैं—'जाननेकी इच्छा करते हैं—इस श्रुतिके बलसे सिद्ध होता है कि वेदानुवचन आदि साधन आत्मजिज्ञासाकी प्राप्तिके लिये ही हैं, ब्रह्म की प्राप्ति के लिये तो उनका त्याग ही अभिप्रेत है।' स्मृति भी कहती है—'कर्मोंसे राग-द्वेषादि कषाय जल जाते हैं, ज्ञान तो परम मति है। कर्मोंके द्वारा कषायोंके दग्ध हो जानेपर फिर ज्ञानका उदय होता है।' मोक्षधर्ममें भी कहा है—'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमोंमें कषायोंको दग्ध करके संन्यास लेना चाहिये। संन्यास सबसे उत्तम अन्तिम आश्रम है। संसारकी अनेकों योनियोंमें जितेन्द्रिय रहकर जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है उसे तो ब्रह्मचर्य आश्रममें ही मोक्ष (वैराग्य) प्राप्त हो जाता है। उसके प्राप्त होनेपर तथा अपने परम प्रयोजन परमार्थतत्त्वका साक्षात्कार कर लेनेपर उस जीवन्मुक्त विद्वान्को अन्य तीन आश्रमोंमें और क्या प्रयोजन अभीष्ट रह जाता है?'

(१) यहाँ 'मोक्ष' का अर्थ वैराग्य है। इससे क्रम और अक्रम दोनों प्रकारके संन्यास दिखाये गये हैं। ऐसा ही श्रुति भी कहती है—'ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ बने फिर गृहस्थसे वानप्रस्थ होकर संन्यासी हो जाय, अथवा दूसरे प्रकारसे ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ले ले अथवा गृहस्थाश्रम या वानप्रस्थ आश्रमसे ही जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन संन्यास ले ले।'

(१) तस्मादज्ञस्याविरक्तादृशायां कर्मानुष्ठानमेव। तस्यैव विरक्तादृशायां संन्यासः श्रवणाद्यवसरदानेन ज्ञानार्थ इति दशाभेदेनाज्ञमधिकृत्यैव कर्मतत्त्यागौ व्याख्यातुं पञ्चमषष्ठावध्यायावारभ्येते। विद्वत्संन्यासस्तु ज्ञानबलादर्थसिद्ध एवेति संदेहाभावान्नात्र विचार्यते।

(२) तत्रैकमेव जिज्ञासुमज्ञं प्रति ज्ञानार्थत्वेन कर्मतत्त्यागयोर्विधानात्तयोश्च विरुद्धयोर्युगपदनुष्ठानासंभवान्मया जिज्ञासुना किमिदानीमनुष्ठेयमिति संदिहानः—

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

(३) हे कृष्ण सदानन्दरूप भक्तदुःखकर्षणेति वा। कर्मणां यावज्जीवादिश्रुतिविहितानां नित्यानां नैमित्तिकानां च संन्यासं त्यागं जिज्ञासुमज्ञं प्रति कथयसि वेदमुखेन पुनस्तद्विरुद्धं योगं च कर्मानुष्ठानरूपं शंससि 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति', 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिवाक्यद्वयेन,

---

(१) अतः अज्ञानीके लिये वैराग्य न होनेकी दशामें कर्मानुष्ठान ही कर्त्तव्य है तथा वैराग्य होनेपर उसीके लिये श्रवणादिका अवसर देकर ज्ञानकी प्राप्ति करानेके लिये संन्यासका विधान किया गया है—इस प्रकार अवस्थाभेदसे अज्ञानीके लिये ही कर्म और उसके त्यागकी व्याख्या करनेके उद्देश्यसे पाँचवें और छठे अध्यायोंका आरम्भ किया गया है। विद्वत्संन्यास तो ज्ञानके बलसे स्वतः ही हो जाता है, इसलिये उसके विषयमें कोई सन्देह न होनेके कारण यहाँ उसका विचार नहीं किया जाता।

(२) सो 'ज्ञानकी इच्छावाले एक ही अज्ञानी पुरुषके लिये ज्ञानके प्रयोजनसे कर्म और कर्मत्याग—इन दोनोंका विधान होनेसे तथा परस्पर विरुद्ध उन दोनोंका एक साथ अनुष्ठान होना सम्भव न होनेसे मुझ ज्ञानार्थीको अब किसका अनुष्ठान करना चाहिये' इस प्रकार सन्देहमें पड़े हुए—

[श्लोकार्थः—अर्जुनने कहा—श्रीकृष्ण! आप कर्मोंके त्यागका और फिर कर्मयोगका भी उपदेश कर रहे हैं, अतः इनमें जो अधिक श्रेयस्कर हो उस एकका ही अच्छी तरह निश्चय करके मुझे उपदेश कीजिये ॥ १ ॥]

(३) हे कृष्ण!—सदानन्दरूप अथवा भक्तोंके दुःखोंको खींच लेनेवाले! आप 'इसी आत्मलोककी इच्छा करते हुए संन्यासी लोग संन्यास करते हैं' तथा 'उस इस ब्रह्मको ब्राह्मण लोग वेदोंके स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप और उपवास द्वारा जानना चाहते हैं' इन दो श्रुतिवाक्योंसे अथवा 'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः। शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' (४।२१) और 'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठ' (४।४२) इन दो गीतावाक्योंसे ज्ञानकी इच्छावाले एक ही अज्ञानीके लिये वेदके आधारसे 'यावज्जीवन अग्निहोत्र करे' इत्यादि श्रुतिद्वारा विहित नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके संन्यास—त्यागका और फिर उसके विरुद्ध कर्मानुष्ठानरूप योगका उपदेश कर रहे हैं। इस प्रकार आपने एक ही अज्ञानीके लिये कर्म और कर्मत्यागका विधान किया है; किन्तु इन दोनोंका एक साथ अनुष्ठान होना सम्भव नहीं है, इसलिये इन दोनोंमें जिस एकको आप श्रेयस्कर—अधिक प्रशंसनीय समझें उस कर्म या कर्मत्यागरूप अपने सुनिश्चित मतका मुझे अनुष्ठान करनेके लिये उपदेश कीजिये ॥ १ ॥

'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम् ॥'

'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत' इति गीतावाक्यद्वयेन वा। तत्रैकमज्ञं प्रति कर्मतत्त्यागयोर्विधानाद्युगपदुभयानुष्ठानासंभवादेतयोः कर्मतत्त्यागयोर्मध्ये यदेकं श्रेयः प्रशस्यतरं मन्यसे कर्म वा तत्त्यागं वा तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितं तव मतमनुष्ठानाय ॥ १ ॥

(१) एवमर्जुनस्य प्रश्ने तदुत्तरम्—

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

(२) निःश्रेयसकरौ ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन मोक्षोपयोगिनौ। तयोस्तु कर्मसंन्यासादनधिकारिकृतात्कर्मयोगो विशिष्यते श्रेयानधिकारसंपादकत्वेन ॥ २ ॥

(३) तमेव कर्मयोगं स्तौति त्रिभिः—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

(४) स कर्मणि प्रवृत्तोऽपि नित्यं संन्यासीति ज्ञेयः। कौऽसौ? यो न द्वेष्टि भगवदर्पणबुद्ध्या क्रियमाणं कर्म निष्फलत्वशङ्कया। न काङ्क्षति स्वर्गादिकम्। निर्द्वन्द्वो रागद्वेषरहितो हि यस्मात्सुखमनायासेन हे महाबाहो बन्धादन्तःकरणाशुद्धिरूपाज्ज्ञानप्रतिबन्धात्प्रमुच्यते नित्यानित्यवस्तुविवेकादिप्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ३ ॥

---

(१) इस प्रकार अर्जुनका प्रश्न होनेपर उसके उत्तरमें—

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान्‌ने कहा—कर्मसंन्यास और कर्मयोग ये दोनों ही कल्याणकारी हैं; किन्तु इन दोनोंमें कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है ॥ २ ॥]

(२) [श्रीभगवान्‌ने कहा—] निःश्रेयस्कर हैं अर्थात् ज्ञानोत्पत्तिके हेतु होनेके कारण मोक्षमें उपयोगी हैं। किन्तु उनमें भी अनधिकारीके किये हुए कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग अधिकारकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे विशेष अर्थात् श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

(३) उस कर्मयोगकी ही तीन श्लोकोंसे स्तुति करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे महाबाहो! जो न द्वेष करता है और न चाहता है उसे नित्य संन्यासी ही समझना चाहिये, क्योंकि राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण वह सुगमतासे ही बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥]

(४) कर्मोंमें प्रवृत्त होनेपर भी उसे नित्य संन्यासी ही समझना चाहिये। वह कौन है?—जो भगवदर्पण बुद्धिसे किये जाते हुए कर्मसे, उसकी निष्फलताकी आशङ्कासे, द्वेष नहीं करता और स्वर्गादिकी इच्छा नहीं रखता; क्योंकि हे महाबाहो! निर्द्वन्द्व—राग-द्वेषरहित पुरुष सुखपूर्वक—अनायास ही बन्धनसे—अन्तःकरणकी अशुद्धिरूप ज्ञानके प्रतिबन्धसे प्रमुच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेकादिके प्रकर्षपूर्वक मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

(१) ननु यः कर्मणि प्रवृत्तः स कथं संन्यासीति ज्ञातव्यः कर्मत्यागयोः स्वरूपविरोधात्, फलैक्यात्तथेति चेत्, न स्वरूपतो विरुद्धयोः फलेऽपि विरोधस्यौचित्यात्। तथाच निःश्रेयसकरावुभावित्यनुपपन्नमित्याशङ्क्याऽऽह—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

(२) संख्या सम्यगात्मबुद्धिस्तां वहतीति ज्ञानान्तरङ्गसाधनतया सांख्यः संन्यासः। योगः पूर्वोक्तः कर्मयोगः। तौ पृथग्विरुद्धफलौ बालाः शास्त्रार्थविवेकज्ञानशून्याः प्रवदन्ति न पण्डिताः। किं तर्हि पण्डितानां मतम्। उच्यते—एकमपि संन्यासकर्मणोर्मध्ये सम्यगास्थितः स्वाधिकारानुरूपेण सम्यग्यथाशास्त्रं कृतवान्सन्नुभयोर्विन्दते फलं ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण निःश्रेयसमेकमेव ॥ ४ ॥

(३) एकस्यानुष्ठानात्कथमुभयोः फलं विन्दते तत्राऽऽह—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

(४) सांख्यैर्ज्ञाननिष्ठैः संन्यासिभिरैहिककर्मानुष्ठानशून्यत्वेऽपि प्राग्भवीयकर्मभिरेव संस्कृता-

(१) 'किन्तु जो कर्ममें प्रवृत्त है उसे संन्यासी कैसे समझना चाहिये? क्योंकि कर्म और कर्मत्यागके स्वरूपमें तो विरोध है। यदि कहो कि दोनोंकी फलमें एकता होनेसे ऐसा मानना चाहिये—तो ठीक नहीं, क्योंकि जो स्वरूपतः विरुद्ध हैं उनके तो फलमें भी विरोध रहना ही उचित है, अतः ये दोनों ही कल्याणकारी हैं—यह बात नहीं बन सकती।' ऐसी आशङ्का करके भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—संन्यास और कर्मयोग विरुद्ध फलवाले हैं—यह बात मूर्ख (शास्त्रके तात्पर्यको न समझनेवाले) लोग कहते हैं, पण्डितजन नहीं। पुरुष अपने अधिकारके अनुसार यथाशास्त्र एकका अनुसरण करनेपर भी दोनों से मिलनेवाला (मोक्षरूप) फल प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥]

(२) संख्या सम्यक् आत्मबुद्धिको कहते हैं, उसे ज्ञानके अन्तरङ्गसाधनरूपसे जो धारण करता है वह सांख्य—संन्यास और योग—पहले कहा हुआ कर्मयोग ये दोनों पृथक्—विरुद्ध फलवाले हैं—ऐसा बाल—शास्त्रार्थके विवेकज्ञानसे शून्य पुरुष कहते हैं, पण्डित लोग नहीं। तो फिर पण्डितोंका मत क्या है? सो बतलाते हैं—संन्यास और कर्म इन दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् आस्थित होनेपर अर्थात् अपने अधिकारके अनुसार सम्यक्—यथाशास्त्र आचरण करनेपर ज्ञानोत्पत्तिके द्वारा दोनोंका मोक्षरूप एक ही फल प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

(३) एकका अनुष्ठान करनेपर दोनोंका फल कैसे प्राप्त कर लेता है? इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—संन्यासियों द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है वही कर्मयोगियोंको भी मिलता है; अतः जो संन्यास और कर्मयोगको एकरूपसे देखता है वही ठीक देखता है ॥ ५ ॥]

(४) लौकिक कर्मानुष्ठानसे शून्य होनेपर भी अपने पूर्वजन्मके कर्मोंसे ही शुद्ध-

न्तःकरणैः श्रवणादिपूर्विकया ज्ञाननिष्ठया यत्प्रसिद्धं स्थानं तिष्ठत्येवास्मिन्नतु कदाऽपि च्यवत इति व्युत्पत्त्या मोक्षाख्यं प्राप्यत आवरणाभावमात्रेण लभ्यत इव नित्यप्राप्तत्वात्। योगैरपि भगवदर्पणबुद्धया फलाभिसंधिराहित्येन कृतानि कर्माणि शास्त्रीयाणि योगास्ते येषां सन्ति तेऽपि योगाः। अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः। तैर्योगिभिरपि सत्त्वशुद्धया संन्यासपूर्वकश्रवणादिपुरःसरया ज्ञाननिष्ठया वर्तमाने भविष्यति वा जन्मनि संपत्स्यमानया तत्स्थानं गम्यते। अत एकफलत्वादेकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स एव सम्यक्पश्यति नान्यः।

(१) अयं भावः—येषां संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा दृश्यते तेषां तयैव लिङ्गेन प्राग्जन्मसु भगवदर्पितकर्मनिष्ठाऽनुमीयते। कारणमन्तरेण कार्योत्पत्त्ययोगात्। तदुक्तम्—

'यान्यतोऽन्यानि जन्मानि तेषु नूनं कृतं भवेत्।
यत्कृत्यं पुरुषेणेह नान्यथा ब्रह्मणि स्थितिः॥' इति।

एवं येषां भगवदर्पितकर्मनिष्ठा दृश्यते तेषां तयैव लिङ्गेन भाविनी संन्यासपूर्वज्ञाननिष्ठाऽनुमीयते सामग्र्याः कार्याव्यभिचारित्वात्। तस्मादज्ञेन मुमुक्षुणाऽन्तःकरणशुद्धये प्रथमं कर्मयोगोऽनुष्ठेयो न तु संन्यासः। स तु वैराग्यतीव्रतायां स्वयमेव भविष्यतीति ॥ ५ ॥

(२) अशुद्धान्तःकरणेनापि संन्यास एव प्रथमं कुतो न क्रियते ज्ञाननिष्ठाहेतुत्वेन तस्याऽऽवश्यकत्वादिति चेत्तत्राऽऽह—

चित्त सांख्य अर्थात् ज्ञाननिष्ठ संन्यासियोंके द्वारा श्रवणादिजनित ज्ञाननिष्ठाके द्वारा जो प्रसिद्ध मोक्षसंज्ञक स्थान, जिसे 'इसमें स्थित ही रहता है, कभी च्युत नहीं होता' इस व्युत्पत्तिसे स्थान कहा है, प्राप्त किया जाता है—नित्य प्राप्त होनेके कारण जो आवरणकी निवृत्तिमात्रसे प्राप्त किया जाता-सा जान पड़ता है, योगों द्वारा भी—भगवदर्पणबुद्धिसे फलकी इच्छा न रखकर किये जानेवाले शास्त्रीय कर्म 'योग' हैं, वे जिनके हैं वे भी 'योग' कहे जाते हैं—'योग' शब्द अर्शादिगणमें है, अतः यहाँ 'मतुप्' प्रत्ययके अर्थमें 'अच्' प्रत्यय हुआ है—उन योगियोंके द्वारा भी अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर वर्तमान या भावी-जन्ममें संन्यासपूर्वक किये हुए श्रवणादिसे प्राप्त हुई ज्ञाननिष्ठासे वही स्थान प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार एक फलवाले होनेसे जो सांख्य और योगको एकरूप देखता है वही ठीक देखता है, दूसरा कोई नहीं।

(१) भाव यह है कि जिनकी संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा देखी जाती है, उस निष्ठारूप लिंगसे ही उनकी पूर्वजन्मोंमें भगवदर्पित कर्मनिष्ठाका अनुमान होता है, क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति होनी सम्भव नहीं है। ऐसा कहा भी है 'वर्तमान जन्मसे जो अन्य जन्म हैं उनमें इस पुरुषने अवश्य सत्कर्म किये होंगे, नहीं तो इसकी ब्रह्ममें स्थिति नहीं हो सकती थी।' इसी प्रकार जिनकी भगवदर्पित कर्मनिष्ठा देखी जाती है उनकी, उसी लिंगसे, आगामी संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठाका अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि कारण-सामग्री अपने कार्यकी उत्पत्ति करती ही है। अतः मोक्षकी इच्छावाले अज्ञानी पुरुषको पहले अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्मयोगका अनुष्ठान करना चाहिये, न कि संन्यासका, क्योंकि वैराग्यकी तीव्रता होनेपर संन्यास तो स्वयं ही हो जायगा ॥ ५ ॥

(२) यदि कोई कहे कि 'अशुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषको भी पहले संन्यास ही क्यों नहीं करना चाहिये, क्योंकि ज्ञाननिष्ठाका हेतु होनेसे उसे करना आवश्यक ही है' तो इसपर कहते हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

(१) अयोगतो योगमन्तःकरणशोधकं शास्त्रीयं कर्मान्तरेण हठादेव यः कृतः संन्यासः स तु दुःखमाप्तुमेव भवति अशुद्धान्तःकरणत्वेन तत्फलस्य ज्ञाननिष्ठाया असंभवात् । शोधके च कर्मण्यनधिकारात्कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टत्वेन परमसंकटापत्तेः । कर्मयोगयुक्तस्तु शुद्धान्तःकरणत्वान्मुनिर्मननशीलः संन्यासी भूत्वा ब्रह्म सत्यज्ञानादिलक्षणमात्मानं नचिरेण शीघ्रमेवाधिगच्छति साक्षात्करोति प्रतिबन्धकाभावात् । एतदुक्तं प्रागेव—

'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥' इति ।

(२) अत एकफलत्वेऽपि कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यत इति यत्प्रागुक्तं तदुपपन्नम् ॥ ६ ॥

(३) ननु कर्मणो बन्धहेतुत्वाद्योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्माधिगच्छतीत्यनुपपन्नमित्यत आह—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

(४) भगवदर्पणफलाभिसन्धिराहित्यादिगुणयुक्तं शास्त्रीयं कर्म योग इत्युच्यते । तेन योगेन

[श्लोकार्थः—हे महाबाहो ! योगके बिना हठपूर्वक किया हुआ संन्यास दुःख पानेके लिये ही होता है । योगयुक्त होकर संन्यास करनेवाला मुनि शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है ॥ ६ ॥]

(१) अयोगतः—अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाले शास्त्रीय कर्मरूप योगके बिना हठसे ही किया हुआ जो संन्यास है वह तो दुःख पानेके लिये ही होता है, क्योंकि अन्तःकरण अशुद्ध होनेके कारण उसकी फलभूता ज्ञाननिष्ठा तो हो नहीं सकती तथा अन्तःकरणकी शुद्धि करनेवाले कर्ममें अधिकार नहीं रहता—इस प्रकार कर्म और ब्रह्म दोनोंसे भ्रष्ट हो जानेके कारण बड़ा सङ्कट उपस्थित हो जाता है । किन्तु जो कर्मयोगसे युक्त है वह मुनि—मननशील तो शुद्धचित्त होनेके कारण संन्यासी होकर ब्रह्म—सत्यज्ञानादिलक्षण आत्माको अचिर—शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है, प्रतिबन्धका अभाव हो जानेके कारण उसका साक्षात्कार कर लेता है । 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' (३।४) इत्यादि श्लोकसे यह बात पहले ही कही जा चुकी है ।

(२) अतः एक फलवाले होनेपर भी पहले जो 'कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है' ऐसा कहा है वह उचित ही है ॥ ६ ॥

(३) 'कर्म तो बन्धनका हेतु है, इसलिये यह कहना उचित नहीं कि योगयुक्त मुनि ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है' ऐसा यदि कोई कहे तो कहते हैं—

[श्लोकार्थः—कर्मयोगयुक्त पुरुष विशुद्धचित्त, संयतशरीर, जितेन्द्रिय और सम्पूर्ण जड़-चेतनको आत्मभावसे देखनेवाला होनेके कारण कर्म करनेपर भी उसमें लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥]

(४) भगवदर्पण और फलेच्छाशून्यता आदि गुणोंसे युक्त शास्त्रीय कर्म 'योग' कहा

युक्तः पुरुषः प्रथमं विशुद्धात्मा विशुद्धो रजस्तमोभ्यामकलुषित आत्माऽन्तःकरणरूपं सत्त्वं यस्य स तथा । निर्मलान्तःकरणः सन्विजितात्मा स्ववशीकृतदेहः । ततो जितेन्द्रियः स्ववशीकृतसर्वबाह्येन्द्रियः । एतेन मनूक्तस्त्रिदण्डी कथितः,

'वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डीति कथ्यते ॥' इति ।

वागिति बाह्येन्द्रियोपलक्षणम् । एतादृशस्य तत्त्वज्ञानमवश्यं भवतीत्याह—सर्वभूतात्ममभूतात्मा सर्वभूत आत्मभूतश्चाऽऽत्मा स्वरूपं यस्य स तथा । जडाजडात्मकं सर्वमात्ममात्रं पश्यन्नित्यर्थः । सर्वेषां भूतानामात्मभूत आत्मा यस्येति व्याख्याने तु सर्वभूतात्मेत्येतावतैवार्थलाभादात्मभूतेत्यधिकं स्यात् । सर्वात्मपदयोर्जडाजडपरत्वे तु समञ्जसम् । एतादृशः परमार्थदर्शी कुर्वन्नपि कर्माणि परदृष्ट्या न लिप्यते तैः कर्मभिः स्वदृष्ट्या तदभावादित्यर्थः ।

(१) एतदेव विवृणोति द्वाभ्याम्—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

जाता है । उस योगसे युक्त पुरुष पहले विशुद्धात्मा—विशुद्ध अर्थात् रजोगुण-तमोगुणसे अदूषित है आत्मा यानी अन्तःकरणरूप सत्त्व जिसका ऐसा निर्मल अन्तःकरणवाला होकर, विजितात्मा—अपने वशमें किया हुआ है देह जिसने ऐसा होकर, फिर जितेन्द्रिय—अपने वशमें की हुई हैं समस्त बाह्य इन्द्रियाँ जिसने ऐसा होकर । इससे मनुजीके कहे हुए त्रिदण्डीका उल्लेख किया गया है—'जिसने वाग्दण्ड (वाणी आदिको वशमें रखना), मनोदण्ड और शरीरदण्ड—इन तीन दण्डोंको धारण करनेका नियम किया है वह 'त्रिदण्डी' कहा जाता है ।' यहाँ 'वाक्' बाह्य इन्द्रियोंको उपलक्षित कराता है । ऐसे पुरुषको तत्त्वज्ञान अवश्य हो जाता है—यह बात 'सर्वभूत' इत्यादिसे कहते हैं । सर्वभूतात्मभूतात्मा—सर्वभूत और आत्मभूत है आत्मा—स्वरूप जिसका वह, अर्थात् जड़-चेतनरूप सभीको आत्ममात्र देखनेवाला । 'समस्त भूतोंका आत्मभूत है आत्मा जिसका' इस प्रकार इसकी व्याख्या करनेपर तो 'सर्वभूतात्मा' इतनेसे ही यह अर्थ निकल सकता था, इसलिये 'आत्मभूत' यह पद अधिक ही रहेगा । अतः 'सर्व' और आत्मा' इन दो पदोंको जड़ एवं अजड़परक मानना ठीक होगा । ऐसा परमार्थदर्शी दूसरोंकी दृष्टिसे कर्म करते रहनेपर भी उन कर्मोंसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसकी अपनी दृष्टिसे तो वे हैं ही नहीं—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ७ ॥

(१) इसीका दो श्लोकोंसे स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—परमार्थतत्त्वको जाननेवाला योगयुक्त पुरुष देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, भोजन करते, चलते, सोते, श्वास लेते, बोलते, त्याग करते, ग्रहण करते तथा आँख खोलते और मूँदते हुए भी 'इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके (अपने-अपने) विषयोंमें वर्त रही हैं' ऐसा निश्चय रखकर 'मैं कुछ भी नहीं करता' ऐसा मानता है ॥ ८-९ ॥]

(१) चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियैर्वागादिकर्मेन्द्रियैः प्राणादिवायुभेदैरन्तःकरणचतुष्टयेन च तत्तच्चेष्टासु क्रियमाणासु इन्द्रियाणीन्द्रियादीन्येवेन्द्रियार्थेषु स्वस्वविषयेषु वर्तन्ते प्रवर्तन्ते न त्वहमिति धारयन्नवधारयन्नेव किंचित्करोमीति मन्येत मन्यते तत्त्ववित्परमार्थदर्शी युक्तः समाहितचित्तः । अथवाऽऽद्यौ युक्तः कर्मयोगेन पश्चादन्तःकरणशुद्धिद्वारेण तत्त्ववित्भूत्वा नैव किंचित्करोमीति मन्यत इति संबन्धः ।

(२) तत्र दर्शनश्रवणस्पर्शनघ्राणाशनानि चक्षुःश्रोत्रत्वग्घ्राणरसनानां पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां व्यापाराः पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नित्युक्ताः । गतिः पादयोः । प्रलापो वाचः । विसर्गः पायूपस्थयोः । ग्रहणं हस्तयोरिति पञ्च कर्मेन्द्रियव्यापारा गच्छन्प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नित्युक्ताः । श्वसन्निति प्राणादिपञ्चकस्य व्यापारोपलक्षणम् । उन्मिषन्निमिषन्निति नागकूर्मादिपञ्चकस्य । स्वपन्नित्यन्तःकरणचतुष्टयस्य । अर्थक्रमवशात्पाठक्रमं भङ्क्त्वा व्याख्याताविमौ श्लोकौ । यस्मात्सर्वव्यापारेष्वप्यात्मनोऽकर्तृत्वमेव पश्यति अतः कुर्वन्नपि न लिप्यत इति युक्तमेवोक्तमिति भावः ॥ ८-९ ॥

(३) तर्ह्यविद्वान्कर्तृत्वाभिमानाल्लिप्येतैव तथाच कथं तस्य संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा स्यादिति तत्राऽऽह—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

(१) चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों, वागादि कर्मेन्द्रियों, प्राणादि वायुके भेदों और अन्तःकरणचतुष्टयके द्वारा उन-उन चेष्टाओंके किये जानेपर इन्द्रियाणि—इन्द्रिय आदि ही इन्द्रियार्थोंमें—अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त हो रही हैं—मैं नहीं—ऐसी धारणा अर्थात् निश्चय करके तत्त्ववित्—परमार्थका साक्षात्कार करनेवाला युक्त—समाहितचित्त पुरुष 'मैं कुछ नहीं करता ऐसा मानता है । अथवा इसका ऐसा सम्बन्ध लगाना चाहिये कि पहले कर्मयोगसे युक्त हो फिर अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा तत्त्ववेत्ता होकर 'मैं कुछ नहीं करता' ऐसा मानता है ।

(२) यहाँ देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना और भोजन करना—ये नेत्र, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण और रसना इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापार 'पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्' इन पदोंसे कहे गये हैं । पैरोंका व्यापार गति, वाक्का व्यापार प्रलाप, पायु और उपस्थका व्यापार विसर्ग तथा हाथोंका व्यापार ग्रहण—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके व्यापार 'गच्छन्, प्रलपन्, विसृजन्, गृह्णन्' इन पदोंसे कहे गये हैं । 'श्वसन्' यह प्राणादि पाँच वायुओंके व्यापारका उपलक्षण है, 'उन्मिषन् निमिषन्' यह नाग और कूर्मादि पाँच वायुओंके व्यापारोंको उपलक्षित कराते हैं तथा 'स्वपन्' यह अन्तःकरणचतुष्टयके व्यापारका उपलक्षक है । अर्थक्रमके कारण इस श्लोककी व्याख्या पाठक्रमका भङ्ग करके की गयी है । क्योंकि समस्त व्यापारोंमें भी वह आत्माका अकर्तृत्व ही देखता है, इसलिये 'वह करते हुए भी लिप्त नहीं होता' यह ठीक ही कहा है—ऐसा इसका भाव है ॥ ८-९ ॥

(३) 'तब अविद्वान् तो कर्तृत्वाभिमानसे लिप्त होता ही है । ऐसी स्थितिमें उसे संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा कैसे प्राप्त हो सकती है ?' इसपर भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जो पुरुष फलकी इच्छा छोड़कर भगवान्को अर्पण करते हुए कर्म करता है वह पापसे इसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे कमलका पत्ता जलसे ॥ १० ॥]

(१) ब्रह्मणि परमेश्वर आधाय समर्प्य सङ्गं फलाभिलाषं त्यक्त्वेश्वरार्थं भृत्य इव स्वाम्यर्थं स्वफलनिरपेक्षतया करोमीत्यभिप्रायेण कर्माणि लौकिकानि वैदिकानि च करोति यो लिप्यते न स पापेन पापपुण्यात्मकेन कर्मणेति यावत् । यथा पद्मपत्रमुपरि प्रक्षिप्तेनाम्भसा न लिप्यते तद्वत् । भगवदर्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितं कर्म बुद्धिशुद्धिफलमेव स्यात् ॥ १० ॥

(२) तदेव विवृणोति—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

(३) कायेन मनसा बुद्ध्येन्द्रियैरपि योगिनः कर्मिणः फलसङ्गं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति । कायादीनां सर्वेषां विशेषणं केवलैरिति । ईश्वरायैव करोमि न मम फलायेति ममताशून्यैरित्यर्थः । आत्मशुद्धये चित्तशुद्ध्यर्थम् ॥ ११ ॥

(४) कर्तृत्वाभिमानसाम्येऽपि तेनैव कर्मणा कश्चिन्मुच्यते कश्चित्तु बध्यत इति वैषम्ये को हेतुरिति तत्राऽऽह—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

(५) युक्त ईश्वरायैवैतानि कर्माणि न मम फलायेत्येवमभिप्रायवान्कर्मफलं त्यक्त्वा कर्माणि

(१) जो ब्रह्ममें—परमेश्वरमें आधान—समर्पण करके सङ्ग अर्थात् फलकी इच्छाको त्यागकर 'सेवक जिस प्रकार स्वामीके लिये काम करता है उसी प्रकार मैं फलकी इच्छा न रखकर भगवान्के लिये कर्म कर रहा हूँ' ऐसे अभिप्रायसे समस्त लौकिक और वैदिक कर्म करता है वह पापसे अर्थात् पुण्य-पापमय कर्मसे लिप्त नहीं होता । जिस प्रकार कमलका पत्ता अपने ऊपर डाले हुए जलसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार भगवदर्पणबुद्धिसे किया हुआ कर्म बुद्धिकी शुद्धिरूप फलवाला ही होता है ॥ १० ॥

(२) इसीको स्पष्ट करते हैं—

[श्लोकार्थः—कर्मयोगी लोग चित्तकी शुद्धिके लिये फलकी आसक्ति छोड़कर ममताशून्य देह, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा भी कर्म करते रहते हैं ॥ ११ ॥]

(३) योगी अर्थात् कर्मी लोग फलकी आसक्ति छोड़कर केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे भी कर्म करते हैं । 'केवलैः' यह काय आदि सभीका विशेषण है । इसका तात्पर्य ऐसा है—'मैं ईश्वरके लिये ही कर्म करता हूँ अपने फलके लिये नहीं' इस प्रकार ममताशून्य देहादिसे । आत्मशुद्धिके लिये अर्थात् चित्तकी शुद्धिके लिये ॥ ११ ॥

(४) 'कर्तृत्वाभिमानकी समानता रहनेपर भी उसी कर्मसे कोई तो मुक्त हो जाता है और कोई बँध जाता है—इस विषमताका क्या कारण है ?' ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

[श्लोकार्थः—योगयुक्त पुरुष तो कर्मफलको त्यागकर नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त करता है, किन्तु अयुक्त पुरुष सकामभावसे प्रवृत्त होनेके कारण फलमें आसक्त होकर कर्मोंमें अत्यन्त बँध जाता है ॥ १२ ॥]

(५) युक्त अर्थात् 'ये कर्म ईश्वरके लिये ही हैं, मुझे कोई फल देनेके लिये नहीं

कुर्वन्शान्तिं मोक्षाख्यामाप्नोति नैष्ठिकीं सत्त्वशुद्धिनित्यानित्यवस्तुविवेकसंन्यासज्ञाननिष्ठाक्रमेण जातामिति यावत् । यस्तु पुनरयुक्त ईश्वरार्थमेवैतानि कर्माणि न मम फलायेत्यभिप्रायशून्यः स कामकारेण कामतः प्रवृत्त्या मम फलायैवेदं कर्म करोमीति फले सक्तो निबध्यते कर्मभिर्नितरां संसारबन्धं प्राप्नोति । यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि युक्तः सन्कर्माणि कुर्विति वाक्यशेषः ॥ १२ ॥

(१) अशुद्धचित्तस्य केवलात्संन्यासात्कर्मयोगः श्रेयानिति पूर्वोक्तं प्रपञ्च्याधुना शुद्धचित्तस्य सर्वकर्मसंन्यास एव श्रेयानित्याह—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

(२) नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रतिषिद्धं चेति सर्वाणि कर्माणि मनसा कर्मण्यकर्म यः पश्येदित्यत्रोक्तेनाकर्त्रात्मस्वरूपसम्यग्दर्शनेन संन्यस्य परित्यज्य प्रारब्धकर्मवशादास्ते तिष्ठत्येव । किं दुःखेन नेत्याह—सुखमनायासेन, आयासहेतुकायवाङ्मनोव्यापारशून्यत्वात् । कायवाङ्मनांसि स्वच्छन्दानि कुतो न व्याप्रियन्ते तत्राऽऽह—वशी स्ववशीकृतकार्यकरणसंघातः । क्वाऽऽस्ते नवद्वारे पुरे द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके वागेकेति शिरसि सप्त द्वे पायूपस्थाख्ये अध इति नवद्वारविशिष्टे देहे । देही देहभिन्नात्मदर्शी प्रवासीव परगेहे तत्पूजापरिभवादिभिरप्रहृष्यन्नविषीदन्नहंकारममकारशून्यस्तिष्ठति । अज्ञो

हैं' ऐसे अभिप्रायवाला पुरुष कर्मफलका त्याग करके कर्म करता हुआ नैष्ठिकी अर्थात् चित्तशुद्धि, नित्यानित्यवस्तुविवेक, संन्यास और ज्ञाननिष्ठाके क्रमसे उत्पन्न हुई मोक्षसंज्ञक शान्ति प्राप्त करता है । किन्तु जो अयुक्त है, 'ये कर्म ईश्वरके ही लिये हैं, मुझे फल देनेके लिये नहीं' ऐसे अभिप्रायसे शून्य है वह कामकार अर्थात् सकामभावसे प्रवृत्त होनेके कारण 'अपनेको फल प्राप्त करानेके लिये ही यह कर्म करता हूँ' ऐसे विचारसे फलमें आसक्त होकर निबद्ध हो जाता है अर्थात् कर्मों द्वारा नितान्त संसारबन्धनमें पड़ जाता है । क्योंकि ऐसा है, इसलिये तुम भी युक्त होकर कर्म करो—यह इस वाक्यका शेष अंश है ॥ १२ ॥

(१) अशुद्धचित्त पुरुषके लिये केवल संन्यास ले लेनेकी अपेक्षा कर्मयोग अच्छा है—इस पूर्वकथनका विस्तारसे निरूपण कर अब यह कहते हैं कि शुद्धचित्तके लिये तो सब कर्मोंका संन्यास ही अधिक श्रेयस्कर है—

[श्लोकार्थः—जिसने भूत और इन्द्रियोंके संघातको अपने वशमें कर लिया है वह देही मनसे समस्त कर्मोंका त्याग कर नौ द्वारोंवाले शरीरमें कुछ भी न करता न कराता हुआ सुखसे रहता है ॥ १३ ॥]

(२) नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध इन समस्त कर्मोंका 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' (४।१८) इस स्थानपर कहे हुए अकर्ता आत्माके स्वरूपका यथावत् दर्शन करनेके द्वारा मनसे संन्यास—परित्याग करके प्रारब्धकर्मवश केवल स्थित रहता है । क्या दुःखपूर्वक रहता है ? इसपर कहते हैं—नहीं, सुखसे अर्थात् अनायाससे, क्योंकि आयास (परिश्रम) के हेतुभूत शरीर वाणी और मनके व्यापारसे शून्य होता है । उसके शरीर, वाणी और मन स्वच्छन्द होकर व्यापार क्यों नहीं करते ? इसपर कहते हैं—वशी—उसने भूत और इन्द्रियोंके संघातको अपने वशमें कर लिया है । कहाँ रहता है ? नवद्वारवाले—दो कान, दो नेत्र, दो नथुने, एक मुख ये सात सिरमें और गुदा और शिश्न ये दो नीचेकी ओर इस प्रकार नौ द्वारोंवाले शरीरमें । देही—देहसे भिन्न आत्माको

हि देहतादात्म्याभिमानाद्देह एव न तु देही । स च देहाधिकरणमेवाऽऽत्मनोऽधिकरणं मन्यमानो गृहे भूमावासने वाऽहमास इत्यभिमन्यते न तु देहेऽहमास इति भेददर्शनाभावात् । संघातव्यतिरिक्तात्मदर्शी तु सर्वकर्मसंन्यासी भेददर्शनाद्देहेऽहमास इति प्रतिपद्यते । अत एव देहादिव्यापाराणामविद्ययाऽऽत्मन्यक्रिये समारोपितानां विद्यया बाध एव सर्वकर्मसंन्यास इत्युच्यते । एतस्मादेवाज्ञवैलक्षण्याद्युक्तं विशेषणं नवद्वारे पुर आस्त इति ।

(१) ननु देहादिव्यापाराणामात्मन्यारोपितानां नौव्यापाराणां तीरस्थवृक्ष इव विद्यया बाधेऽपि स्वव्यापारेणाऽऽत्मनः कर्तृत्वं देहादिव्यापारेषु कारयितृत्वं च स्यादिति नेत्याह—नैव कुर्वन्न कारयन्, आस्त इति संबन्धः ॥ १३ ॥

(२) देवदत्तस्य स्वगतैव गतिर्यथा स्थितौ सत्यां न भवति एवमात्मनोऽपि कर्तृत्वं कारयितृत्वं च स्वगतमेव सत्संन्यासे सति न भवति अथवा नभसि तलमलिनतादिवद्भ्रस्तुवृत्त्या तत्र नास्त्येवेति सन्देहापोहायाऽऽह—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

(३) लोकस्य देहादेः कर्तृत्वं प्रभुरात्मा स्वामी न सृजति त्वं कुर्विति नियोगेन तस्य

देखनेवाला पुरुष दूसरेके घरमें रहनेवाले प्रवासीके समान उस देहरूप घरके पूजा या पराभवसे हर्ष या विषाद न मानता हुआ अहन्ता-ममतासे रहित होकर स्थित रहता है । अज्ञानी तो देहमें तादात्म्यका अभिमान रखनेके कारण देह ही है, देही नहीं । वह देहके आधारको ही अपना आधार मानकर 'मैं घर, पृथ्वी अथवा आसनपर बैठा हूँ' ऐसा मानता है, यह नहीं समझता कि मैं देहमें स्थित हूँ, क्योंकि उसकी देह और आत्मामें भेद-दृष्टि नहीं है । जो देहरूप संघातसे आत्माको अलग देखता है वह सर्वकर्मसंन्यासी तो भेद-दृष्टिके कारण 'मैं देहमें हूँ' ऐसा समझता है । अतः अज्ञानवश अक्रिय आत्मामें आरोपित देहादिके व्यापारोंका ज्ञानसे बाध हो जाना ही सर्वकर्मसंन्यास कहा जाता है । अज्ञानीकी अपेक्षा ज्ञानीमें यह विलक्षणता होनेके कारण ही 'नौ द्वारोंवाले शरीरमें रहता है' ऐसा विशेषण दिया है ।

(१) 'किन्तु तीरस्थ वृक्षोंमें आरोपित नौकाके व्यापारोंके समान आत्मामें आरोपित देहादिके व्यापारोंका ज्ञानसे बाध हो जानेपर भी अपने व्यापारसे तो आत्माका कर्तृत्व और देहादिके व्यापारोंमें उसका कारयितृत्व है ही ?' इसपर कहते हैं—नहीं, नैव कुर्वन्न कारयन् (वह कुछ भी न करता हुआ न कराता हुआ) आस्ते (रहता है)—इस प्रकार इस वाक्यका सम्बन्ध लगाना चाहिये ॥ १३ ॥

(२) जिस प्रकार देवदत्तकी उसमें रहनेवाली गति उसके ठहर जानेपर नहीं रहती उसी प्रकार आत्माके कर्तृत्व और कारयितृत्व उसमें रहनेपर भी संन्यास लेनेपर नहीं रहते या आकाशकी नीलिमाके समान उसमें वास्तविक दृष्टिसे ही नहीं हैं ?—इस सन्देहकी निवृत्तिके लिये भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—आत्मा देहादिके कर्तृत्व या कर्मोंकी रचना नहीं करता और न कर्मफलके सम्बन्धकी ही रचना करता है । प्रकृति ही इस प्रकार प्रवृत्त होती रहती है ॥१४॥]

(३) प्रभु—देहादिका स्वामी आत्मा लोकके—देहके कर्तृत्वकी रचना नहीं करता अर्थात् 'तू कर' इस प्रकार आज्ञा देकर उससे करानेवाला नहीं बनता, और न लोकके

कारयिता न भवतीत्यर्थः। नापि लोकस्य कर्माणीप्सिततमानि घटादीनि स्वयं सृजति कर्ताऽपि न भवतीत्यर्थः। नापि लोकस्य कर्म कृतवतस्तत्फलसंबन्धं सृजति भोजयिताऽपि भोक्ताऽपि न भवतीत्यर्थः। 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव सधीः' इत्यादि श्रुतेः। अत्रापि 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' इत्युक्तेः।

(१) यदि किंचिदपि स्वतो न कारयति न करोति चाऽऽत्मा कस्तर्हि कारयन्कुर्वंश्च प्रवर्तत इति तत्राऽऽह—स्वभावस्तु, अज्ञानात्मिका दैवी माया प्रकृतिः प्रवर्तते ॥ १४ ॥

(२) नन्वीश्वरः कारयिता जीवः कर्ता, तथा च श्रुतिः—'एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इत्यादिः। स्मृतिश्च—

'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥' इति।

तथा च जीवेश्वरयोः कर्तृत्वकारयितृत्वाभ्यां भोक्तृत्वभोजयितृत्वाभ्यां च पापपुण्यलेपसंभवात्कथमुक्तं स्वभावस्तु प्रवर्तत इति तत्राऽऽह—

नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥

(३) परमार्थतः विभुः परमेश्वरः कस्यचिज्जीवस्य पापं सुकृतं च नैवाऽऽदत्ते परमार्थतो जीवस्य

कर्म अर्थात् देहादिके अत्यन्त अभीष्ट घटादिको स्वयं बनाता है। तात्पर्य यह कि कर्ता भी नहीं बनता। तथा कर्म करनेवाले देहादिका उसके फलके साथ सम्बन्ध भी नहीं रचता। अर्थात् भोग करानेवाला या भोग करनेवाला भी नहीं होता; जैसा कि 'वह बुद्धि वृत्तिके अनुरूप होकर दोनों लोकोंमें उसका अनुसरण करता है और ध्यान करता हुआ-सा तथा चेष्टा करता हुआ-सा जान पड़ता है' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। यहाँ भी 'हे कौन्तेय! शरीरमें रहनेपर भी यह न तो कर्म करता है; न उनसे लिप्त होता है' इस वाक्यसे (यही बात कही गयी है)।

(१) यदि आत्मा स्वयं कुछ भी नहीं करता तो फिर कौन करता और कराता हुआ प्रवृत्त होता है? इसपर कहते हैं 'स्वभावस्तु' इत्यादि। स्वभाव अर्थात् अज्ञानात्मिका दैवी माया प्रकृति ही प्रवृत्त होती है॥ १४॥

(२) 'ईश्वर कर्मोंका करानेवाला है और जीव करनेवाला है' ऐसा ही 'जिसे यह ऊपर ले जाना चाहता है उससे यही शुभ कर्म कराता है और जिसे नीचे ले जाना चाहता है उससे यही अशुभ कर्म कराता है' यह श्रुति तथा 'अपने सुख-दुःखके भोगमें अस्वतन्त्र यह अज्ञानी जीव ईश्वरसे प्रेरित होकर ही स्वर्गमें या खड्डेमें (नरकमें) जाता है' यह स्मृति भी कहती है। इस प्रकार जीव और ईश्वरके कर्तृत्व और कारयितृत्वसे तथा भोक्तृत्व और भोजयितृत्वसे उन्हें पाप-पुण्यके लेपकी सम्भावना भी हो सकती है। अतः ऐसा क्यों कहा कि—स्वभाव ही प्रवृत्त होता है?—ऐसा यदि कोई कहे तो भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—ईश्वर न तो किसीके पापको और न पुण्यको ही ग्रहण करता है। अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है, इसीसे जीव मोहमें पड़ जाते हैं॥ १५॥]

(३) वस्तुतः विभु—परमेश्वर किसी भी जीवके पाप और पुण्यको ग्रहण नहीं करता, क्योंकि परमार्थतः जीवका कर्तृत्व नहीं है और परमेश्वरका कारयितृत्व नहीं है।

कर्तृत्वाभावात्परमेश्वरस्य च कारयितृत्वाभावात्। कथं तर्हि श्रुतिः स्मृतिर्लोकव्यवहारश्च तत्राऽऽह—अज्ञानेनाऽऽवरणविक्षेपशक्तिमता मायाख्येनानृतेन तमसाऽऽवृतमाच्छादितं ज्ञानं जीवेश्वरजगद्भेदभ्रमाधिष्ठानभूतं नित्यं स्वप्रकाशं सच्चिदानन्दरूपमद्वितीयं परमार्थसत्यं, तेन स्वरूपावरणेन मुह्यन्ति प्रमातृप्रमेयप्रमाणकर्तृकर्मकरणभोक्तृभोग्यभोगाख्यनवविधसंसाररूपं मोहमतस्मिंस्तदवभासरूपं विक्षेपं गच्छन्ति जन्तवो जननशीलाः संसारिणो वस्तुस्वरूपादर्शिनः। अकर्त्रभोक्तृपरमानन्दाद्वितीयात्मस्वरूपादर्शननिबन्धनोऽयं जीवेश्वरजगद्भेदभ्रमः प्रतीयमानो वर्तते मूढानाम्। तस्यां चावस्थायां मूढप्रत्ययानुवादिन्यावेते श्रुतिस्मृती वास्तवाद्वैतबोधिवाक्यशेषभूते इति न दोषः॥ १५॥

(१) तर्हि सर्वेषामनाद्यज्ञानावृतत्वात्कथं संसारनिवृत्तिः स्यादत आह—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

(२) तदावरणविक्षेपशक्तिमदनाद्यनिर्वाच्यमनृतमनर्थव्रातमूलमज्ञानमात्माश्रयविषयमविद्यामायादिशब्दवाच्यमात्मनो ज्ञानेन गुरूपदिष्टवेदान्तमहावाक्यजन्येन श्रवणमननिदिध्यासनपरिपाकनिर्मलान्तःकरणवृत्तिरूपेण निर्विकल्पकसाक्षात्कारेण शोधिततत्त्वंपदार्थाभेदरूपशुद्धसच्चिदानन्दाखण्डैकरसवस्तुमात्रविषयेण नाशितं बाधितं कालत्रयेऽप्यसदेवासत्तया ज्ञातमधिष्ठानचैतन्यमात्रतां प्रापितं शुक्ताविव रजतं शुक्तिज्ञानेन येषां श्रवणमननादिसाधनसंपन्नानां भगवदनुगृहीतानां मुमुक्षूणां तेषां

तो फिर श्रुति, स्मृति और लोकका व्यवहार—ये सब कैसे होते हैं? इसपर कहते हैं—अज्ञानसे—आवरण और विक्षेप शक्तिवाले मायासंज्ञक मिथ्या अन्धकारसे ज्ञान अर्थात् जीव ईश्वर और जगत्-रूप भेदभ्रमका अधिष्ठानभूत नित्य स्वप्रकाश सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय परमार्थ सत्य आवृत—ढका हुआ है। उस स्वरूपके आवरणसे ही जन्तु—जननशील संसारी पुरुष, जो वस्तुके स्वरूपको नहीं देखते, मोहमें पड़ जाते हैं, अर्थात् प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण; कर्ता, कर्म, करण; भोक्ता, भोग्य और भोग नामके नौ प्रकारके संसाररूप मोहको—अवस्तुमें वस्तुत्वप्रतीतिरूप विक्षेपको प्राप्त हो जाते हैं। अकर्ता अभोक्ता परमानन्द अद्वितीय आत्मस्वरूपको न देखनेके कारण ही मूढ पुरुषोंको जीव ईश्वर और जगत्का प्रतीयमान भेदभ्रम होता है। उस अवस्थामें मूर्खोंकी प्रतीतिका अनुवाद करनेवाली ये (उपर्युक्त शङ्कामें कही हुई) श्रुति और स्मृति वास्तविक अद्वैत तत्त्वका बोध करानेवाले वाक्योंकी शेषभूत हैं, इसलिये ऐसा कहनेमें कोई दोष नहीं है॥ १५॥

(१) 'तब तो अनादि अज्ञानके द्वारा सभीके आवृत होनेके कारण इस संसारकी निवृत्ति कैसे होगी?' इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जिनके उस अज्ञानका आत्माके ज्ञानसे नाश हो गया है उनके प्रति वह ज्ञान सूर्यके समान उस परमात्मतत्त्वको प्रकाशित कर देता है॥ १६॥]

(२) श्रवण, मनन आदि साधनोंसे सम्पन्न और भगवान्से अनुगृहीत जिन मुमुक्षुओंके उस आवरण और विक्षेप शक्तियुक्त, अनादि, अनिर्वाच्य, मिथ्या, अनर्थसमुदायके मूल, आत्माके आश्रय रहनेवाले और आत्माको ही विषय करनेवाले, अविद्यामाया आदि शब्दोंके वाच्य अज्ञानका आत्माके ज्ञानसे अर्थात् गुरुके उपदेश किये हुए वेदान्त के महावाक्योंसे जनित तथा शोधित 'तत्' और 'त्वं' पदके अर्थोंके अभेदरूप शुद्ध सच्चिदानन्द अखण्डैकरस वस्तुमात्रको विषय करनेवाले श्रवण मनन एवं निदिध्यासनके परिपाकसे निर्मल हुई अन्तःकरणकी वृत्तिरूप निर्विकल्प साक्षात्कारसे नाश-बाध

तज्ज्ञानं कर्तृ आदित्यवत्, यथाऽऽदित्यः स्वोदयमात्रेणैव तमो निरवशेषं निवर्तयति न तु कंचित्सहाय-मपेक्षते तथा ब्रह्मज्ञानमपि शुद्धसत्त्वपरिणामत्वाद्व्यापकप्रकाशरूपं स्वोत्पत्तिमात्रेणैव सहकार्यन्तरनिरपेक्षतया सकार्यमज्ञानं निवर्तयत्परं सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपमेकमेवाद्वितीयं परमात्मतत्त्वं प्रकाशयति प्रतिच्छायाग्रहणमात्रेणैव कर्मतामन्तरेणाभिव्यनक्ति।

(१) अत्राज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानेन नाशितमित्यज्ञातस्याऽऽवरणत्वज्ञाननाश्यत्वाभ्यां ज्ञानाभाव-रूपत्वं व्यावर्तितम्। नह्यभावः किंचिदावृणोति न वा ज्ञानाभावो ज्ञानेन नाश्यते स्वभावतो नाशरूपत्वात्तस्य। तस्मादहमज्ञो मामन्यं च न जानामीत्यादिसाक्षिप्रत्यक्षसिद्धं भावरूपमेवाज्ञानमिति भगवतो मतम्। विस्तरस्त्वद्वैतसिद्धौ द्रष्टव्यः।

(२) येषामिति बहुवचनेनानियमो दर्शितः। तथाच श्रुतिः—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति' इत्यादिर्यद्विषयं यदाश्रयमज्ञानं तद्विषयतदाश्रयप्रमाणज्ञानान्निवृत्तिरिति न्यायप्राप्तमनियमं दर्शयति। तत्राज्ञानगतमावरणं द्विविधम्—एकं सतोऽप्यसत्त्वापादकमन्यत्तु भातोऽप्यभानापादकम्। तत्राऽऽद्यं

हो गया है अर्थात् जिस प्रकार शुक्तिका ज्ञान होनेपर उसमें प्रतीत होनेवाला रजत तीनों कालमें असत् और शुक्तिरूप ही निश्चित होता है उसी प्रकार तीनों कालमें असत् यह अज्ञान भी आत्मज्ञान द्वारा असद्रूपसे अनुभूत होकर अपने अधिष्ठानभूत चैतन्यको ही प्राप्त हो गया है, उनका वह प्रकाशक्रियाका कर्तारूप ज्ञान सूर्यके समान—जिस प्रकार सूर्य अपने उदयमात्रसे ही अन्धकारका सर्वथा नाश कर देता है, इसके लिये किसी भी सहायककी अपेक्षा नहीं रखता उसी प्रकार शुद्धसत्त्वका परिणाम होनेके कारण व्यापक प्रकाशरूप ब्रह्म-ज्ञान भी अपनी उत्पत्तिमात्रसे ही, किसी दूसरे सहकारीकी अपेक्षा न रखते हुए कार्यसहित अज्ञानकी निवृत्ति करके परको अर्थात् सत्य ज्ञान अनन्त और आनन्दरूप एक अद्वितीय परमात्मतत्त्वको प्रकाशित कर देता है—विना किसी क्रियाके केवल उसके प्रतिबिम्बके ग्रहणमात्रसे ही अभिव्यक्त कर देता है।

(१) यहाँ 'अज्ञानसे आवृत है' और 'ज्ञानसे नष्ट कर दिया गया है' ऐसा कहकर अज्ञानको ज्ञानका आवरण और उससे नष्ट होनेवाला दिखाकर उसकी ज्ञानाभावरूपताका निषेध कर दिया गया है, क्योंकि अभाव किसीका आवरण नहीं करता और न ज्ञानाभावका ज्ञानसे नाश ही हो सकता है, कारण कि वह तो स्वभावसे ही नाशरूप होता है। अतः 'मैं अज्ञानी हूँ, मैं अपनेको और दूसरेको नहीं जानता' ऐसा जो साक्षीको प्रत्यक्ष सिद्ध अज्ञान है वह भावरूप ही है—ऐसा भगवान्का मत है। इसका विस्तार अद्वैतसिद्धिमें देखना चाहिये।

(२) 'येषाम्' इस बहुवचनसे ज्ञानमें (जाति एवं काल आदिका) अनियम दिखाया है। इसी प्रकार 'देवताओंमेंसे जिस-जिसने उस परब्रह्मको जाना वही तद्रूप हो गया, ऐसा ही ऋषियों और मनुष्योंमें भी हुआ, सो आज भी इसे जो इस प्रकार जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ वही यह सब हो जाता है' इत्यादि श्रुति भी जिसको विषय और जिसको आश्रय करनेवाला जो अज्ञान होता है उसकी उसीको विषय और उसीको आश्रय करनेवाले प्रमाणजनित ज्ञानसे निवृत्ति होती है—यह न्यायप्राप्त नियम प्रदर्शित करती है। अज्ञानगत आवरण दो प्रकारका है—एक तो सत्को भी असत्त्वकी प्राप्ति करानेवाला है और दूसरा प्रतीत होनेवालेकी भी अप्रतीति करा रहा है। इनमें पहला तो परोक्ष एवं अपरोक्ष दोनों प्रकारकी वस्तुओंको विषय करनेवाले साधारण प्रमाण ज्ञानसे ही निवृत्त हो

परोक्षापरोक्षसाधारणप्रमाणज्ञानमात्रान्निवर्तते। अनुमितेऽपि वह्न्यादौ पर्वते वह्निर्नास्तीत्यादिभ्रमा-दर्शनात्। तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मास्ति' इति वाक्यात्परोक्षनिश्चयेऽपि ब्रह्म नास्तीति भ्रमो निवर्तत एव। अस्त्येव ब्रह्म किं तु मम न भातीत्येकं भ्रमजनकं द्वितीयमभानावरणं साक्षात्कारादेव निवर्तते। स च साक्षात्कारो वेदान्तवाक्येनैव जन्यते निर्विकल्पक इत्याद्यद्वैतसिद्धावनुसंधेयम् ॥ १६ ॥

(१) ज्ञानेन परमात्मतत्त्वप्रकाशे सति—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

(२) तस्मिञ्ज्ञानप्रकाशिते परमात्मतत्त्वे सच्चिदानन्दघन एव बाह्यसर्वविषयपरित्यागेन साधनपरिपाकात्पर्यवसिता बुद्धिरन्तःकरणवृत्तिः साक्षात्कारलक्षणा येषां ते तद्बुद्धयः सर्वदा निर्बीजसमाधिभाज इत्यर्थः। तर्हि बोद्धारो जीवा बोद्धव्यं ब्रह्मतत्त्वमिति बोद्धृबोद्धव्यलक्षणभेदोऽस्ति नेत्याह—तदात्मानः, तदेव परं ब्रह्माऽऽत्मा येषां ते तथा। बोद्धृबोद्धव्यभावो हि मायाविजृम्भितो न वास्तवाभेदविरोधीति भावः।

(३) ननु तदात्मान इति विशेषणं व्यर्थम्। अविद्वद्व्यावर्तकं हि विद्वद्विशेषणम्। अज्ञा अपि हि वस्तुगत्या तदात्मान इति कथं तद्व्यावृत्तिरिति चेत्, न, इतरात्मत्वव्यावृत्तौ तात्पर्यात्।

जाता है, जैसे कि धूमादि लिङ्गसे अग्नि आदिका अनुमान हो जानेपर भी 'पर्वतमें अग्नि नहीं है' ऐसा भ्रम होता नहीं देखा जाता। इसी प्रकार 'ब्रह्म सत्यज्ञान और अनन्तरूप है' इस वाक्यसे परोक्षरूपसे निश्चय होनेपर भी 'ब्रह्म नहीं है' यह भ्रम निवृत्त हो ही जाता है। किन्तु 'ब्रह्म है तो सही, पर मुझे प्रतीत नहीं होता' इस प्रकारके भ्रमको उत्पन्न करनेवाला दूसरा अभानावरण साक्षात्कारसे ही दूर होता है और वह निर्विकल्पक साक्षात्कार वेदान्तवाक्यसे ही उत्पन्न होता है। इस विषयका अद्वैतसिद्धिसे विवेचन कर लेना चाहिये ॥ १६ ॥

(१) ज्ञान द्वारा परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जानेपर—

[श्लोकार्थ :—जिनके अन्तःकरणकी वृत्ति परमात्मामें ही रहती है, जो परमात्माको ही अपना आत्मा समझते हैं, परमात्मामें ही जिनकी स्थिति रहती है और परमात्मा ही जिनका परम प्राप्तव्य स्थान है वे ज्ञानसे सर्वथा निष्कल्मष हुए यतिजन पुनः देहसम्बन्धकी अप्राप्तिरूप मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥]

(२) ज्ञानसे प्रकाशित उस सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्वमें ही सम्पूर्ण बाह्य विषयोंके परित्यागपूर्वक साधनके परिपाकसे जिनकी बुद्धि—साक्षात्काररूपा अन्तःकरणकी वृत्ति पर्यवसित (स्थित) हो गयी है वे तद्बुद्धि अर्थात् सर्वदा निर्बीज समाधिका अनुभव करनेवाले हैं। तो क्या उस समय 'जीव जाननेवाले हैं और ब्रह्मतत्त्व जाना जाता है' ऐसा इन दोनोंमें ज्ञातृ-ज्ञेयरूप भेद रहता है? इसपर कहते हैं—नहीं, जो तदात्मा हैं अर्थात् वह परब्रह्म ही जिनका आत्मा है। इस प्रकार भाव यह है कि मायासे प्रतीत होनेवाला यह ज्ञातृज्ञेयभाव भी वास्तविक अभेदका विरोधी नहीं है।

(३) 'किन्तु 'तदात्मानः' यह विशेषण तो व्यर्थ है। विद्वान्का विशेषण तो अविद्वान् की व्यावृत्ति करनेवाला हुआ करता है। किन्तु वास्तवमें तो अज्ञानी भी तदात्मा ही हैं, अतः इससे उनकी व्यावृत्ति कैसे हो सकती है?' ऐसा यदि कोई कहे तो कहते

अज्ञा हि अनात्मभूते देहादावात्माभिमानिन इति न तदात्मान इति व्यपदिश्यन्ते। विज्ञास्तु निवृत्तदेहाद्यभिमाना इति विरोधिनिवृत्त्या तदात्मान इति व्यपदिश्यन्त इति युक्तं विशेषणम्।

(१) ननु कर्मानुष्ठानविक्षेपे सति कथं देहाद्यभिमाननिवृत्तिरिति तत्राऽऽह—तन्निष्ठाः, तस्मिन्नेव ब्रह्मणि सर्वकर्मानुष्ठानविक्षेपनिवृत्त्या निष्ठा स्थितिर्येषां ते तन्निष्ठाः, सर्वकर्मसंन्यासेन तदेकविचारपरा इत्यर्थः। फलरागे सति कथं तत्साधनभूतकर्मत्याग इति तत्राऽऽह—तत्परायणाः, तदेव परमयनं प्राप्तव्यं येषां ते तत्परायणाः, सर्वतो विरक्ता इत्यर्थः।

(२) अत्र तद्बुद्धय इत्यनेन साक्षात्कार उक्तः। तदात्मान इत्यनात्माभिमानरूपविपरीतभावनानिवृत्तिफलको निदिध्यासनपरिपाकः, तन्निष्ठा इत्यनेन सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकः प्रमाणप्रमेयगतासंभावनानिवृत्तिफलको वेदान्तविचारः श्रवणमननपरिपाकरूपः, तत्परायणा इत्यनेन वैराग्यप्रकर्ष इत्युत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वहेतुत्वं द्रष्टव्यम्। उक्तविशेषणा यतयो गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं पुनर्देहसंबन्धाभावरूपां मुक्तिं प्राप्नुवन्ति। सकृन्मुक्तानामपि पुनर्देहसंबन्धः कुतो न स्यादिति तत्राऽऽह—ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः, ज्ञानेन निर्धूतं समूलमुन्मूलितं पुनर्देहसंबन्धकारणं कल्मषं पुण्यपापात्मकं कर्म येषां ते तथा। ज्ञानेनानाद्यज्ञाननिवृत्त्या तत्कार्यकर्मक्षये तन्मूलकं पुनर्देहग्रहणं कथं भवेदिति भावः ॥ १७ ॥

हैं—नहीं, इसका तात्पर्य तो अन्यस्वरूपताकी व्यावृत्ति करनेमें है। अज्ञानी लोग तो अनात्मभूत देहादिमें आत्मत्वका अभिमान रखनेवाले होते हैं, इसलिये उन्हें 'तदात्मा' नहीं कहा जाता। ज्ञानी लोगोंका तो देहादिमें अभिमान नहीं रहता, इसलिये विरोध न रहनेके कारण उन्हें 'तदात्मा' कहा जाता है, अतः यह विशेषण उचित ही है।

(१) 'किन्तु कर्मानुष्ठानजनित विक्षेपके रहते हुए उनके देहादिमें अभिमानकी निवृत्ति कैसे हो सकती है?' इसपर कहते हैं—तन्निष्ठाः—सम्पूर्ण कर्मानुष्ठानरूप विक्षेपकी निवृत्तिपूर्वक जिनकी उस ब्रह्ममें ही निष्ठा—स्थिति है वे 'तन्निष्ठ' कहे जाते हैं। अर्थात् समस्त कर्मोंके त्यागपूर्वक एकमात्र ब्रह्मविचारमें ही लगे रहनेवाले। 'परन्तु कर्मफलमें राग रहते हुए उसके साधनभूत कर्मका त्याग ही कैसे हो सकता है?' इसपर कहते हैं—तत्परायणाः—वह ब्रह्म ही जिनका परम अयन अर्थात् प्राप्तव्य है वे 'तत्परायण' कहे जाते हैं, अर्थात् सब ओरसे विरक्त।

(२) यहाँ 'तद्बुद्धयः' इस विशेषणसे साक्षात्कार कहा गया है। 'तदात्मानः' से अनात्माभिमानरूप विपरीत भावनाकी निवृत्ति जिसका फल है वह निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्था कही गयी है। 'तन्निष्ठाः' इस पदसे प्रमाण-प्रमेयगत असम्भावनाकी निवृत्ति जिसका फल है वह सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक श्रवण-मननका परिपाकरूप वेदान्तविचार कहा है तथा 'तत्परायणाः' इससे वैराग्यकी तीव्रता दिखाई है—इस प्रकार इनमेंसे अगले-अगले विशेषणको पूर्व-पूर्व विशेषणका हेतु समझना चाहिये। इन विशेषणोंसे युक्त यतिजन अपुनरावृत्तिको—पुनः देहसम्बन्धकी अभावरूपा मुक्तिको प्राप्त होते हैं। 'एक बार मुक्त हो जानेपर भी उन्हें फिर देहका सम्बन्ध क्यों नहीं होता?' इसपर कहते हैं—'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः'—ज्ञानके द्वारा निर्धूत—समूल उन्मूलित (उच्छिन्न) हो गया है कल्मष—पुनःदेह-सम्बन्धका हेतुभूत पुण्य-पापरूप कर्म जिनका वे ऐसे हैं। इस प्रकार ज्ञानसे अनादि अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर उसके कार्यभूत कर्मोंका क्षय हो जानेसे उनके कारण होनेवाला पुनःदेहग्रहण किस प्रकार हो सकता है? ऐसा इसका भाव है ॥ १७ ॥

(१) देहपातादूर्ध्वं विदेहकैवल्यरूपं ज्ञानफलमुक्त्वा प्रारब्धकर्मवशात्सत्यपि देहे जीवन्मुक्तिरूपं तत्फलमाह—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

(२) विद्या वेदार्थपरिज्ञानं ब्रह्मविद्या वा। विनयो निरहंकारत्वमनौद्धत्यमिति यावत्। ताभ्यां संपन्ने ब्रह्मविदि विनीते च ब्राह्मणे सात्त्विके सर्वोत्तमे, तथा गवि संस्कारहीनायां राजस्यां मध्यमायां, तथा हस्तिनि शुनि श्वपाके चात्यन्ततामसे सर्वाधमेऽपि, सत्त्वादिगुणैस्तज्जैश्च संस्कारैरस्पृष्टमेव समं ब्रह्म द्रष्टुं शीलं येषां ते समदर्शिनः, पण्डिता ज्ञानिनः, यथा गङ्गातोये तडागे सुरायां मूत्रे वा प्रतिबिम्बितस्यादित्यस्य न तद्गुणदोषसंबन्धस्तथा ब्रह्मणोऽपि चिदाभासद्वारा प्रतिबिम्बितस्य नोपाधिगतगुणदोषसंबन्ध इति प्रतिसंदधानाः सर्वत्र समदृष्टयैव रागद्वेषराहित्येन परमानन्दस्फूर्त्या जीवन्मुक्तिमनुभवन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

(३) ननु सात्त्विकराजसतामसेषु स्वभावविषमेषु प्राणिषु समत्वदर्शनं धर्मशास्त्रनिषिद्धम्। तथाच तस्यान्नमभोज्यमित्युपक्रम्य गौतमः स्मरति—'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' इति। समासमाभ्यामिति चतुर्थीद्विवचनम्। विषमसम इति द्वंद्वैकवद्भावेन सप्तम्येकवचनम्। चतुर्वेदपारगाणामत्यन्तसदाचाराणां याद्रशो वस्त्रालंकारान्नादिदानपुरःसरः पूजाविशेषः क्रियते तत्समायैवान्यस्मै

---

(१) देहपातके पश्चात् ज्ञानका विदेह कैवल्यरूप फल कहकर प्रारब्धकर्मवश शरीरके रहनेपर भी उसका जीवन्मुक्तिरूप फल कहते हैं—

[श्लोकार्थः—पण्डितजन विद्या और विनयसे सम्पन्न ब्राह्मणमें, गौमें, हाथीमें, कुत्तेमें और चाण्डालमें भी ब्रह्मका ही दर्शन करनेवाले होते हैं ॥ १८ ॥]

(२) विद्या—वेदार्थका ज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या, तथा विनय—निरहङ्कारता अर्थात् उद्दण्डताका अभाव—इन दोनों गुणोंसे सम्पन्न ब्रह्मवेत्ता और विनयशील ब्राह्मणमें, जो सात्त्विक और सबसे श्रेष्ठ है तथा गौमें, जो संस्कारहीन रजोगुणी और मध्यम कोटिकी है एवं हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी, जो अत्यन्त तमोगुणी और सबसे अधम होते हैं, जिनका सत्त्वादिगुण और उनसे होनेवाले संस्कारोंसे अस्पृष्ट सम अर्थात् ब्रह्मको देखनेका स्वभाव है वे समदर्शी पण्डित अर्थात् ज्ञानी लोग 'जिस प्रकार गंगाजल, तालाब, मदिरा अथवा मूत्रमें प्रतिबिम्बित होनेवाले सूर्यको उनके गुण या दोषोंका सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार चिदाभासके द्वारा प्रतिबिम्बित ब्रह्मको भी उपाधिगत गुण-दोषोंका सम्बन्ध नहीं है' ऐसा अनुसन्धान करते हुए सर्वत्र समदृष्टि होनेसे राग-द्वेषसे रहित रहनेके कारण परमानन्दकी स्फूर्तिसे जीवन्मुक्तिका अनुभव करते हैं—ऐसा इसका भाव है ॥१८॥

(३) 'किन्तु जो सात्त्विक, राजस और तामस इस प्रकार स्वभावसे ही विषम प्राणी हैं उनमें समत्व देखना तो धर्मशास्त्रसे निषिद्ध है। ऐसा ही 'उसका अन्न अभोज्य होता है' इस प्रकार आरम्भ करके गौतमजी अपनी स्मृतिमें कहते हैं—'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः'[1] इत्यादि। यहाँ 'समासमाभ्याम्' यह चतुर्थीका द्विवचन है और 'विषमसमे' यह समाहारद्वन्द्व होनेसे सप्तमीका एकवचन है। इसका तात्पर्य यह है कि चारों वेदोंके पारगामी अत्यन्त सदाचारनिष्ठोंकी जिस प्रकार वस्त्राभूषणोंके समर्पणपूर्वक

1. विषमों (असमानों) की समान और समानोंकी असमान पूजा करनेसे।

चतुर्वेदपारगाय सदाचाराय विषमे तदपेक्षया न्यूने पूजाप्रकारे कृते, तथाऽल्पवेदानां हीनाचाराणां यादृशो हीनसाधनः पूजाप्रकारः क्रियते तादृशायैवासमाय पूर्वोक्तवेदपारगसदाचारब्राह्मणापेक्षया हीनाय तादृशहीनपूजाधिके मुख्यपूजासमे पूजाप्रकारे कृते, उत्तमस्य हीनतया हीनस्योत्तमतया पूजातो हेतोस्तस्य पूजयितुरन्नमभोज्यं भवतीत्यर्थः। पूजयिता प्रतिपत्तिविशेषमकुर्वन्धनाद्धर्माच्च हीयत इति च दोषान्तरम्। यद्यपि यतीनां निष्परिग्रहाणां पाकाभावाद्धनाभावाच्चाभोज्यान्नत्वं धनहीनत्वं च स्वत एव विद्यते तथाऽपि धर्महानिर्दोषो भवत्येव। अभोज्यान्नत्वं चाशुचित्वेन पापोत्पत्त्युपलक्षणम्। तपोधनानां च तप एव धनमिति तद्धानिरपि दूषणं भवत्येवेति कथं समदर्शिनः पण्डिता जीवन्मुक्ता इति प्राप्ते परिहरति—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९॥

(१) तैः समदर्शिभिः पण्डितैरिहैव जीवनदशायामेव जितोऽतिक्रान्तः सर्गः सृज्यत इति व्युत्पत्त्या द्वैतप्रपञ्चः। देहपातादूर्ध्वमतिक्रमितव्य इति किमु वक्तव्यम्। कैः, येषां साम्ये सर्वभूतेषु विषमेष्वपि वर्तमानस्य ब्रह्मणः समभावे स्थितं निश्चलं मनः। हि यस्मान्निर्दोषं समं सर्वविकारशून्यं कूटस्थनित्यमेकं च ब्रह्म तस्मात्ते समदर्शिनो ब्रह्मण्येव स्थिताः।

विशेष पूजा की जाती है, उसके समान ही किसी दूसरे चारों वेदोंके पारगामी और सदाचारनिष्ठकी विषम अर्थात् उससे नीची कोटिकी पूजा करनेपर तथा थोड़े वेदोंको जाननेवाले और नीची कोटिके आचारवालोंका जैसा निम्न कोटिके साधनोंसे सत्कार किया जाता है वैसे असम अर्थात् पूर्वोक्त वेदके पारगामी और सदाचारनिष्ठ ब्राह्मणकी अपेक्षा हीन पुरुषका उसके अनुरूप हीन पूजासे बढ़कर मुख्य पूजाके समान पूजा करनेपर अर्थात् उत्तमकी हीन रूपसे और हीनकी उत्तम रूपसे पूजा करनेके कारण उस पूजा करनेवालेका अन्न अभोज्य हो जाता है। इसके सिवा दूसरा दोष यह भी है कि पूजा करनेवाला विशेष विचार न करनेसे धन और धर्मसे भी च्युत हो जाता है। यद्यपि परिग्रह पाक और धनसे रहित होनेके कारण यतियोंकी अभोज्यान्नता और धनहीनता तो स्वतः ही सिद्ध है तथापि धर्महानिरूप दोष तो उन्हें भी होता ही है। अभोज्यान्नत्व भी अपवित्रताके कारण होनेसे पापकी उत्पत्तिका ही सूचक है। तपोधनोंका तो तप ही धन होता है, अतः उन्हें भी तपरूप धनकी हानिका दोष तो होता ही है। इस प्रकार समदर्शी पण्डितजन जीवन्मुक्त किस प्रकार हो सकते हैं?' ऐसी शंका प्राप्त हो तो भगवान् उसका परिहार करते हैं—

[श्लोकार्थः—जिनका मन साम्यमें स्थित है उन्होंने यहीं संसारको जीत लिया है; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, अतः वे ब्रह्ममें ही स्थित हैं॥ १९॥]

(१) उन समदर्शी पण्डितोंने यहाँ ही—जीवन-दशामें ही सर्गको—'जो सृजा जाय' इस व्युत्पत्तिके अनुसार द्वैत प्रपञ्चको जीत लिया है—पार कर लिया है; अतः 'देह-पातके अनन्तर वे इसे पार कर लेंगे' इसमें तो कहना ही क्या है? किन्होंने पार कर लिया है? जिनका साम्यमें—समस्त विषम भूतोंमें भी विद्यमान ब्रह्मके समभावमें मन स्थित अर्थात् निश्चल है। क्योंकि ब्रह्म निर्दोष सम अर्थात् समस्त विकारोंसे शून्य, कूटस्थ नित्य और एक है; इसलिये वे समदर्शी ब्रह्ममें ही स्थित हैं।

(१) अयं भावः—दुष्टत्वं हि द्वेधा भवति अदुष्टस्यापि दुष्टसंबन्धात्स्वतोदुष्टत्वाद्वा। यथा गङ्गोदकस्य मूत्रगर्तपातात्, स्वत एव वा यथा मूत्रादेः। तत्र दोषवत्सु श्वपाकादिषु स्थितं तद्दोषैर्दुष्यति ब्रह्मेति मूढैर्विभाव्यमानमपि सर्वदोषासंसृष्टमेव ब्रह्म व्योमवदसङ्गत्वात् 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः',

'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥' इति श्रुतेः।

नापि कामादिधर्मवत्तया स्वत एव कलुषितं कामादेरन्तःकरणधर्मत्वस्य श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात्। तस्मान्निर्दोषब्रह्मरूपा यत्तयो जीवन्मुक्ता अभोज्यान्नादिदोषदुष्टाश्चेति व्याहतम्। स्मृतिस्त्वविद्वद्गृहस्थविषयैव, तस्यान्नमभोज्यमित्युपक्रमात्, पूजात इति मध्ये निर्देशात्, धनाद्धर्माच्च हीयत इत्युपसंहाराच्चेति द्रष्टव्यम्॥ १९॥

(२) यस्मान्निर्दोषं समं ब्रह्म तस्मात्तद्रूपमात्मानं साक्षात्कुर्वन्—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥

(३) 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' इत्यत्र व्याख्यातं पूर्वार्धम्। जीवन्मुक्तानां

---

(१) इसका भाव यह है—वस्तुकी दोषयुक्तता दो प्रकारसे होती है—(१) स्वयं दूषित न होनेपर भी दूषित वस्तुके सम्बन्धसे, जैसे मूत्रके गड्ढेमें गिरनेसे गंगाजलकी; अथवा (२) स्वतः ही, जैसे मूत्रादिकी। सो मूढ पुरुष यद्यपि ऐसी कल्पना करते हैं कि दोषयुक्त चाण्डालादिमें स्थित रहनेवाला ब्रह्म उनके दोषोंसे दूषित हो जाता है तथापि आकाशके समान असंग होनेके कारण ब्रह्म तो समस्त दोषोंसे अछूता ही है; जैसा कि 'यह पुरुष असंग ही है' तथा 'जिस प्रकार समस्त संसारका नेत्ररूप सूर्य नेत्रेन्द्रियसम्बन्धी बाह्य दोषोंसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार समस्त भूतोंका एक ही अन्तरात्मा लोकोंके दुःखसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह असंग है' इन श्रुतियोंसे भी सिद्ध होता है। इसके सिवा वह कामादि धर्मोंवाला होनेपर भी स्वयं ही दूषित नहीं होता, क्योंकि कामादि अन्तःकरणके धर्म हैं—यह बात श्रुति और स्मृतियोंसे सिद्ध ही है। अतः निर्दोष ब्रह्मरूप यति जीवन्मुक्त हैं और अभोज्यान्नत्व आदि दोषोंसे दूषित भी हैं—यह कथन तो परस्पर विरुद्ध है। 'समासमाभ्याम्' इत्यादि स्मृति तो अज्ञानी गृहस्थसे ही सम्बन्ध रखनेवाली है; क्योंकि इसका 'उसका अन्न अभोज्य है' इस प्रकार आरम्भ हुआ है, 'पूजासे' ऐसा बीचमें निर्देश किया है और 'धन तथा धर्मसे रहित हो जाता है' इस प्रकार उपसंहार किया है—सो समझ लेना चाहिये॥ १९॥

(२) क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिये आत्माका उस रूपसे साक्षात्कार करनेवाला—

[श्लोकार्थः—स्थिरबुद्धि, मोहहीन और ब्रह्ममें स्थित हुआ ब्रह्मवेत्ता प्रियके प्राप्त होनेपर हर्षित न हो और अप्रियके प्राप्त होनेपर उद्विग्न न हो॥ २०॥]

(३) इसके पूर्वार्धकी व्याख्या 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' (२।५६) इत्यादि स्थलपर की है। मुमुक्षुओंको जीवन्मुक्तके स्वाभाविक आचरणका ही प्रयत्नपूर्वक आचरण करना चाहिये—यह बतानेके लिये 'प्रहृष्येत्' और 'उद्विजेत्' इनमें लिङ् प्रत्यय दिये हैं। जिसका

स्वाभाविकं चरितमेव मुमुक्षुभिः प्रयत्नपूर्वकमनुष्ठेयमिति वदितुं लिङ्प्रत्ययौ । अद्वितीयात्मदर्शनशीलस्य व्यतिरिक्तप्रियाप्रियप्राप्त्ययोगात्र तन्निमित्तौ हर्षविषादावित्यर्थः ।

(१) अद्वितीयात्मदर्शनमेव विवृणोति—स्थिरबुद्धिः स्थिरा निश्चला संन्यासपूर्वकवेदान्तवाक्यविचारपरिपाकेण सर्वसंशयशून्यत्वेन निर्विचिकित्सा निश्चिता ब्रह्मणि बुद्धिर्यस्य स तथा, लब्धश्रवणमननफल इति यावत् । एतादृशस्य सर्वासंभावनाशून्यत्वेऽपि विपरीतभावनाप्रतिबन्धात्साक्षात्कारो नोदेतीति निदिध्यासनमाह—असंमूढः, निदिध्यासनस्य विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहस्य परिपाकेण विपरीतभावनाख्यसंमोहरहितः । ततः सर्वप्रतिबन्धापगमाद्ब्रह्मविद्ब्रह्मसाक्षात्कारवान् । ततश्च समाधिपरिपाकेण निर्दोषे समे ब्रह्मण्येव स्थितो नान्यत्रेति ब्रह्मणि स्थितो जीवन्मुक्तः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । एतादृशस्य द्वैतदर्शनाभावात्प्रहर्षोद्वेगौ न भवत इत्युचितमेव । साधकेन तु द्वैतदर्शने विद्यमानेऽपि विषयदोषदर्शनादिना प्रहर्षविषादौ त्याज्याविति्यभिप्रायः ॥ २० ॥

(२) ननु बाह्यविषयप्रीतेरनेकजन्मानुभूतत्वेनातिप्रबलत्वात्तदासक्तचित्तस्य कथमलौकिके ब्रह्मणि दृष्टसर्वसुखरहिते स्थितिः स्यात्, परमानन्दरूपत्वादिति चेत्, न, तदानन्दस्यानुभूतचरत्वेन चित्तस्थितिहेतुत्वाभावात् । तदुक्तं वार्तिके—

स्वभाव अद्वितीय आत्माका ही दर्शन करनेका है उसे अपनेसे भिन्न प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति होनी सम्भव नहीं है, अतः उनके कारण उसे हर्ष और विषाद भी नहीं हो सकते—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

(१) अद्वितीय आत्मदर्शनको ही स्पष्ट करते हैं—स्थिरबुद्धि—स्थिर—निश्चल अर्थात् संन्यासपूर्वक वेदान्तवाक्योंके विचारका परिपाक होनेसे सब प्रकारके संशयोंका अभाव हो जानेके कारण जिसकी बुद्धि ब्रह्ममें संशयशून्य यानी निश्चित हो गयी है ऐसा पुरुष अर्थात् जिसे श्रवण और मननका फल प्राप्त हो गया है, ऐसे पुरुषको सब प्रकारकी असम्भावनाका अभाव हो जानेपर भी विपरीतभावनारूप प्रतिबन्धके कारण साक्षात्कार नहीं होता इसलिये 'असम्मूढः' इससे निदिध्यासनका उल्लेख करते हैं। असम्मूढ अर्थात् विजातीय प्रत्ययके व्यवधानसे शून्य सजातीय प्रत्ययके प्रवाहरूप निदिध्यासनके परिपाकसे जो विपरीत भावना रूप सम्मोहसे रहित है । उससे समस्त प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति हो जानेसे जो ब्रह्मवित् अर्थात् ब्रह्मके साक्षात्कारवाला हो गया है तथा उस साक्षात्कारसे समाधिके परिपक्व हो जानेपर, अन्यत्र नहीं, निर्दोष और सम ब्रह्ममें ही जो स्थित है वह जीवन्मुक्त अर्थात् स्थितप्रज्ञ । ऐसे पुरुषको द्वैतदृष्टिका अभाव हो जानेके कारण हर्ष और उद्वेग नहीं होते—यह उचित ही है । किन्तु साधकको भी द्वैत दर्शनके रहते हुए ही विषयोंमें दोषदृष्टि आदि करके प्रहर्ष और विषादका त्याग ही करना चाहिये—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ २० ॥

(२) 'बाह्य प्रीति तो अनेकों जन्मोंसे अनुभवमें आती रहनेसे बहुत प्रबल हो गयी है, उसमें आसक्तचित्त पुरुषकी अलौकिक, अदृष्ट और सब प्रकारके सुखसे रहित ब्रह्ममें किस प्रकार स्थिति हो सकती है ? यदि कहो कि परमानन्दस्वरूप होनेके कारण हो जायगी, तो ऐसी भी बात नहीं है, क्योंकि उसका आनन्द अनुभूतिका विषय न होनेसे चित्तकी स्थितिका कारण नहीं हो सकता । ऐसा ही वार्तिकमें भी कहा है—'शास्त्रोंमें आनन्द भले ही सुना गया हो, किन्तु यदि उसे प्रमाणद्वारा साक्षात् अनुभव न किया जाय तो वह दृष्ट सुखकी इच्छाको मन्द करनेमें समर्थ नहीं हो सकता ।' इसपर कहते हैं—

'अप्यानन्दः श्रुतः साक्षान्मानेनाविषयीकृतः ।
इष्टानन्दाभिलाषं स न मन्दीकर्तुमप्यलम् ॥' इति ।

तत्राऽऽह—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

(१) इन्द्रियैः स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः शब्दादयः । ते च बाह्या अनात्मधर्मत्वात् । तेष्वसक्तात्माऽनासक्तचित्तस्तृष्णाशून्यतया विरक्तः सन्नात्मनि अन्तःकरण एव बाह्यविषयनिरपेक्षं यदुपशमात्मकं सुखं तद्विन्दति लभते निर्मलसत्त्ववृत्त्या । तदुक्तं भारते—

'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥' इति ।

(२) अथवा प्रत्यगात्मनि त्वंपदार्थे यत्सुखं स्वरूपभूतं सुषुप्तावनुभूयमानं बाह्यविषयासक्तिप्रतिबन्धादलभ्यमानं तदेव तदभावाल्लभते ।

(३) न केवलं त्वंपदार्थसुखमेव लभते किं तु तत्पदार्थैक्यानुभवेन पूर्णसुखमपीत्याह—स तृष्णाशून्यो ब्रह्मणि परमात्मनि योगः समाधिस्तेन युक्तस्तस्मिन्व्यापृत आत्माऽन्तःकरणं यस्य स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा । अथवा ब्रह्मणि तत्पदार्थे योगेन वाक्यार्थानुभवरूपेण समाधिना युक्त ऐक्यं प्राप्त आत्मा त्वंपदार्थस्वरूपं यस्य स तथा, सुखमक्षयमनन्तं स्वस्वरूपभूतमश्नुते व्याप्नोति सुखानुभवरूप

[श्लोकार्थः—जिसका चित्त बाह्य विषयोंमें आसक्त नहीं है वह जो आत्मामें सुख है उसे प्राप्त करता है । वह ब्रह्ममें समाधियुक्त चित्तवाला पुरुष अनन्त सुखमें व्याप्त हो जाता है ॥ २१ ॥]

(१) इन्द्रियोंसे जिनका स्पर्श किया जाता है वे शब्दादि विषय स्पर्श हैं और अनात्मधर्म होनेके कारण वे बाह्य हैं, उनमें जो असक्तात्मा—अनासक्तचित्त अर्थात् तृष्णाशून्य होनेके कारण विरक्त है वह आत्मा अर्थात् अन्तःकरणमें ही जो बाह्य विषयकी अपेक्षासे रहित उपशमात्मक सुख है उसे निर्मल सत्त्वमयी वृत्तिसे प्राप्त करता है । महाभारतमें ऐसा कहा है—'लोकमें जो कामसुख है और स्वर्गादिमें जो महान् दिव्य सुख हैं—ये तृष्णाक्षयजनित सुखके सोलहवें अंशकी भी बराबरी नहीं कर सकते ।'

(२) अथवा आत्मा—प्रत्यगात्मा—त्वंपदके अर्थमें जो विषयासक्तिरूप प्रतिबन्धके कारण प्रतीत न होनेवाला सुषुप्तिमें अनुभूयमान स्वरूपभूत सुख है उसीको विषयासक्तिरूप प्रतिबन्धका अभाव होनेसे प्राप्त करता है ।

(३) इस प्रकार वह केवल त्वंपदार्थके सुखको ही प्राप्त नहीं करता, अपितु तत्पदार्थके साथ एकताका अनुभव होनेसे पूर्ण सुख भी प्राप्त करता है—ऐसा 'स' इत्यादिसे कहते हैं । वह तृष्णाशून्य पुरुष ब्रह्म—परमात्मामें जो योग—समाधि है उससे युक्त होकर अर्थात् उस ब्रह्मयोगमें प्रवृत्त है आत्मा—अन्तःकरण जिसका ऐसा 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' होकर अथवा ब्रह्म यानी तत्पदार्थमें योगसे—वाक्यार्थके अनुभवरूप समाधिसे युक्त—एकताको प्राप्त है आत्मा त्वंपदार्थका स्वरूप जिसका ऐसा होकर वह अक्षय्य—अनन्त स्वस्वरूपभूत सुख प्राप्त करता अर्थात् उसमें व्याप्त हो जाता है । तात्पर्य यह कि सर्वदा सुखानुभवरूप ही हो जाता है । यद्यपि स्वस्वरूपभूत सुख नित्य है तो भी अविद्याकी

एव सर्वदा भवतीत्यर्थः। नित्येऽपि वस्तुन्यविद्यानिवृत्त्यभिप्रायेण भात्वर्थयोग औपचारिकः। तस्मादात्मन्यक्षयसुखानुभवार्थी सन्बाह्यविषयप्रीतेः क्षणिकाया महानरकानुबन्धिन्याः सकाशादिन्द्रियाणि निवर्तयेत्तावतैव च ब्रह्मणि स्थितिर्भवतीत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

(१) ननु बाह्यविषयप्रीतिनिवृत्तावात्मन्यक्षयसुखानुभवस्तस्मिंश्च सति तत्प्रसादादेव बाह्यविषयप्रीतिनिवृत्तिरितीतरेतराश्रयवशान्नैकमपि सिध्येदित्याशङ्क्य विषयदोषदर्शनाभ्यासेनैव तत्प्रीतिनिवृत्तिर्भवतीति परिहारमाह—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

(२) हि यस्माद्ये संस्पर्शजा विषयेन्द्रियसंबन्धजा भोगाः क्षुद्रसुखलवानुभवा इह वा परत्र वा रागद्वेषादिव्याप्तत्वेन दुःखयोनय एव ते, ते सर्वेऽपि ब्रह्मलोकपर्यन्तं दुःखहेतव एव। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

'यावतः कुरुते जन्तुः संबन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥' इति।

एतादृशा अपि न स्थिराः किं तु आद्यन्तवन्तः, आदिर्विषयेन्द्रियसंयोगोऽन्तश्च तद्वियोग एवं तौ विद्येते येषां ते पूर्वापरयोरसत्त्वान्मध्ये स्वप्नवदाविर्भूताः क्षणिका मिथ्याभूताः। तदुक्तं गौडपादाचार्यैः—'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' इति।

निवृत्तिके अभिप्रायसे उसमें उपचारसे व्याप्त हो जानारूप क्रियाके अर्थका योग किया है। अतःअभिप्राय यह है कि आत्मामें अक्षय सुखका अनुभव करनेकी इच्छावाला होकर महानरकमें ले जानेवाली बाह्य विषयोंकी क्षणिक प्रीतिसे इन्द्रियोंको निवृत्त करे, इतने हीसे ब्रह्ममें स्थिति हो जाती है ॥ २१ ॥

(१) 'किन्तु बाह्य विषयोंकी आसक्ति दूर होनेपर तो आत्मामें अक्षय सुखका अनुभव होता है और आत्मसुखका अनुभव होनेपर उसीकी कृपासे बाह्य विषयोंकी आसक्ति दूर होती है—इस प्रकार एक दूसरेके आश्रित होनेके कारण तो इनमेंसे एक भी सिद्ध नहीं हो सकता' ऐसी आशंका करके उसका इस प्रकार परिहार करते हैं कि विषयमें दोषदृष्टिका अभ्यास करनेसे ही उनकी आसक्ति दूर होती है—

[श्लोकार्थः—कुन्तिनन्दन ! इन्द्रिय और विषयोंके सम्बन्धसे जो भोग प्राप्त होते हैं वे दुःखके ही कारण हैं तथा आदि और अन्तवाले हैं। विवेकी पुरुष उनमें प्रीति नहीं करता ॥ २२ ॥]

(२) क्योंकि जो संस्पर्शज—विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे जनित भोग—क्षुद्र सुखलेशके अनुभव इस लोक या परलोकमें हैं वे राग-द्वेषसे व्याप्त होनेके कारण दुःखयोनि ही हैं अर्थात् ब्रह्मलोकपर्यन्त वे सब दुःखके ही कारण हैं। विष्णुपुराणमें भी ऐसा कहा है—'जीव जितने मनको प्रिय लगनेवाले सम्बन्ध पैदा कर लेता है उतने ही इसके हृदयमें शोकके काँटे गड़ जाते हैं।' ऐसे होकर भी ये स्थिर नहीं हैं, किन्तु आदि-अन्तवान् हैं, आदि—विषय और इन्द्रियोंका संयोग तथा अन्त—उनका वियोग ये दोनों इनमें विद्यमान हैं। इस प्रकार पहले और पीछे असद्रूप होनेके कारण मध्यमें भी ये स्वप्नके समान केवल प्रतीत होनेवाले, क्षणिक और मिथ्या ही हैं। ऐसा ही श्रीगौडपादाचार्यजीने भी कहा है—'जो आदि और अन्तमें नहीं है वह वर्तमानमें भी वैसा ही है।'

(१) यस्मादेवं तस्मात्तेषु बुधो विवेकी न रमते प्रतिकूलवेदनीयत्वाच्च प्रीतिमनुभवति। तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना—'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (पा० द० २।१५) इति। सर्वमपि विषयसुखं दृष्टमानुश्रविकं च दुःखमेव प्रतिकूलवेदनीयत्वात्, विवेकिनः परिज्ञातक्लेशादिस्वरूपस्य न त्वविवेकिनः। अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानत्यल्पदुःखक्लेशेनाप्युद्विजते यथोर्णातन्तुरतिसुकुमारोऽप्यक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति नेतरेष्वङ्गेषु तद्वद्विवेकिन एव मधुविषसंपृक्तान्नभोजनवत्सर्वमपि भोगसाधनं कालत्रयेऽपि क्लेशानुविद्धत्वाद्दुःखं न मूढस्य बहुविधदुःखसहिष्णोरित्यर्थः। तत्र परिणामतापसंस्कारदुःखैरिति भूतवर्तमानभविष्यत्कालेऽपि दुःखानुविद्धत्वादौपाधिकं दुःखत्वं विषयसुखस्योक्तं, गुणवृत्तिविरोधाच्चेत्यनेन स्वरूपतोऽपि दुःखत्वम्। तत्र परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च त एव दुःखानि तैरित्यर्थः। इत्थंभूतलक्षणे तृतीया। तथाहि—रागानुविद्ध एव सर्वोऽपि सुखानुभवः। न हि तत्र न रज्यति तेन सुखी चेति संभवति। राग एव च पूर्वमुद्भूतः सन्विषयप्राप्त्या सुखरूपेण परिणमते। तस्य च प्रतिक्षणं वर्धमानत्वेन स्वविषयाप्राप्तिनिबन्धनदुःखस्यापरिहार्यत्वाद्दुःखरूपतैव। या हि भोगेष्विन्द्रियाणामुपशान्तिः परितृप्तत्वात्तत्सुखम्। या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्।

---

(१) क्योंकि ऐसा है, इसलिये बुध—विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता अर्थात् प्रतिकूल प्रतीत होनेके कारण उनमें प्रीतिका अनुभव नहीं करता। भगवान् पतञ्जलिने इस विषयमें ऐसा कहा है—'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'—इस लोक और परलोकका जितना सुख है वह प्रतिकूलवेदनीय होनेके कारण दुःख ही है, विवेकी अर्थात् जो क्लेशादिके स्वरूपको जानता है उसके लिये, न कि अविवेकीके लिये, क्योंकि विद्वान् नेत्रगोलकके समान है, वह अत्यन्त अल्प लेशमात्र दुःखसे भी उद्विग्न हो जाता है। जिस प्रकार ऊनका रूआँ अत्यन्त कोमल होनेपर भी नेत्रगोलकमें पड़नेसे अपने स्पर्शसे दुःख देता है, किन्तु दूसरे अङ्गोंमें लगनेसे नहीं देता इसी प्रकार मधु और विषसे मिले हुए अन्नको खानेके समान तीनों कालमें क्लेशयुक्त होनेके कारण समस्त भोगसाधन विवेकीके लिये ही दुःखरूप हैं, तरह-तरहके दुःख सहनेकी आदतवाले मूढ पुरुषके लिये नहीं—ऐसा इसका तात्पर्य है। यहाँ 'परिणामतापसंस्कारदुःखैः' इस पदसे भूत, वर्तमान और भविष्यमें भी दुःखसे युक्त होनेके कारण विषयसुखका औपाधिक दुःखरूपत्व कहा है तथा 'गुणवृत्तिविरोधाच्च' इस पदसे उसे स्वरूपतः भी दुःखरूप बताया है। अर्थात् परिणाम, ताप और संस्कार—ये जो दुःख हैं इनके कारण [विषयसुख भी दुःखरूप हैं]। यहाँ इत्थंभूतलक्षणमें तृतीया विभक्ति है। जैसे सभी सुखानुभव रागसे व्याप्त हैं। 'उसमें राग नहीं है और उससे सुखी है' ऐसा तो हो नहीं सकता। राग ही पहले उत्पन्न होकर फिर विषयप्राप्तिसे सुखरूपमें परिणत होता है। वह राग प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, अतः उस अवस्थामें विषयकी प्राप्ति न होनेसे होनेवाला दुःख अपरिहार्य होनेके कारण वह दुःखरूप ही है। भोगोंमें परितृप्त होनेके कारण जो इन्द्रियोंका उपशम हो जाना है वही सुख है और उनमें लोलुपताके कारण उनकी जो अशान्ति है वही दुःख है। किन्तु भोगोंके अभ्याससे उनमें इन्द्रियोंकी तृष्णाका अभाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि भोगोंके अभ्याससे तो राग और उनके

---

१. परिणाम, ताप और संस्कारजनित दुःख एवं गुणोंकी वृत्तियोंके विरोधके कारण विवेकीके लिये सब दुःखरूप ही है।

यतो भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्। स्मृतिश्च—'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥' इति। तस्माद्दुःखात्मकराग-परिणामत्वाद्विषयसुखमपि दुःखमेव कार्यकारणयोरभेदादिति परिणामदुःखत्वम्।

(१) तथा सुखानुभवकाले तत्प्रतिकूलानि दुःखसाधनानि द्वेष्टि। नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति भूतानि च हिनस्ति। द्वेषश्च सर्वाणि दुःखसाधनानि मे मा भूवन्निति संकल्पविशेषः। न च तानि सर्वाणि कश्चिदपि परिहर्तुं शक्नोति। अतः सुखानुभवकालेऽपि तत्परिपन्थिनं प्रति द्वेषस्य सर्वदैवावस्थितत्वात्तापदुःखं दुष्परिहरमेव। तापो हि द्वेषः। एवं दुःखसाधनानि परिहर्तुमशक्तौ मुह्यति चेति मोहदुःखताऽपि व्याख्येया। तथाचोक्तं योगभाष्यकारैः—सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतना-चेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति। तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः। सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते। ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मा-वुपचिनोति। स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःखतोच्यते। तथा वर्तमानः सुखानुभवः स्वविनाशकाले संस्कारमाधत्ते। स च सुखस्मरणं, तच्च रागं, स च मनःकायवचनचेष्टां, सा च पुण्यापुण्यकर्माशयौ, तौ च जन्मादीति संस्कारदुःखता। एवं तापमोहयोरपि संस्कारौ व्याख्येयौ।

सेवनमें इन्द्रियोंकी क्षमता ही बढ़ती है। स्मृति भी कहती है—'विषयोंकी लालसा विषयोंके भोगनेसे कभी शान्त नहीं होती, इससे तो आहुतिसे अग्निके समान वह और भी बढ़ जाती है।' अतः दुःखरूप रागका परिणाम होनेके कारण विषयसुख भी दुःख ही है, क्योंकि कार्य और कारणका अभेद होता है—यह परिणामदुःखता है।

(१) इसी प्रकार सुखका अनुभव करते समय उसके विरोधी दुःखके साधनोंसे द्वेष भी करता है तथा प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाये बिना कोई उपभोग होना सम्भव नहीं है, इसलिये जीवोंको कष्ट भी पहुँचाता है। 'दुःखके सम्पूर्ण साधन मुझे प्राप्त न हों' इस प्रकारका संकल्पविशेष ही 'द्वेष' कहा जाता है; किन्तु उन समस्त दुःखसाधनोंका परिहार कोई भी नहीं कर सकता। अतः सुखके अनुभवके समय भी उसके विरोधीके प्रति सर्वदा द्वेष रहनेके कारण तापदुःखसे छुटकारा पाना भी कठिन ही है। ताप भी द्वेष ही है। इस प्रकार दुःखके साधनोंका परिहार करनेमें असमर्थ होनेपर मोहमें भी पड़ता ही है, इस प्रकार मोहदुःखताकी भी व्याख्या कर लेनी चाहिये। ऐसा ही योगभाष्यकारने भी कहा है—'सबको द्वेषसे युक्त और चेतन एवं अचेतन साधनोंके अधीन ही तापका अनुभव होता है।' इससे द्वेषजनित कर्माशय भी बनता ही है। मनुष्य सुखके साधनोंकी इच्छा करके शरीर, वाणी या मनसे चेष्टा करता है। इससे वह दूसरेपर अनुग्रह करता है या उसे पीडा पहुँचाता है; इस प्रकार दूसरेपर अनुग्रह करने या उसे पीडा पहुँचानेसे वह पुण्य-पापका सञ्चय करता है। वह कर्माशय लोभ और मोहसे सञ्चित होता है। इस प्रकार यह 'तापदुःखता' कही जाती है। जिस प्रकार वर्तमान सुखानुभव अपने विनाशके समय अपना संस्कार छोड़ जाता है और वह संस्कार सुखका स्मरण कराता है, स्मरणसे राग होता है, उससे शरीर, वाणी और मनकी चेष्टा होती है, वह पुण्य-पापरूप कर्माशय उत्पन्न करती है और वे पुण्य-पाप जन्मादि संस्कारदुःखताकी प्राप्ति कराते हैं—इसी प्रकार ताप और मोहके संस्कारोंकी भी व्याख्या कर लेनी चाहिये।

(१) एवं कालत्रयेऽपि दुःखानुवेधाद्विषयसुखं दुःखमेवेत्युक्त्वा स्वरूपतोऽपि दुःखतामाह—गुणवृत्तिविरोधाच्च, गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि सुखदुःखमोहात्मकाः परस्परविरुद्धस्वभावा अपि तैलवर्त्यग्नय इव दीपं पुरुषभोगोपयुक्तत्वेन व्यात्मकमेकं कार्यमारभन्ते तत्रैकस्य प्राधान्ये द्वयोर्गुण-भावात्प्रधानमात्रव्यपदेशेन सात्त्विकं राजसं तामसमिति त्रिगुणमपि कार्यमेकेन गुणेन व्यपदिश्यते। तत्र सुखोपभोगरूपोऽपि प्रत्यय उद्भूतसत्त्वकार्यत्वेऽप्यनुद्भूतरजस्तमःकार्यत्वात्त्रिगुणात्मक एव। तथा च सुखात्मकत्ववद्दुःखात्मकत्वं विषादात्मकत्वं च तस्य ध्रुवमिति दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। न चैतादृशोऽपि प्रत्ययः स्थिरः। यस्माच्चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्। नन्वेकः प्रत्ययः कथं परस्परविरुद्धसुखदुःखमोहरूपान्येकदा प्रतिपद्यत इति चेत्, न, उद्भूतानुद्भूतयोर्विरोधा-भावात्। समवृत्तिकानामेव हि गुणानां युगपद्विरोधो न विषमवृत्तिकानाम्। यथा धर्मज्ञानवैराग्यै-श्वर्याणि लब्धवृत्तिकानि लब्धवृत्तिकैरेवाधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यैः सह विरुध्यन्ते न तु स्वरूपसद्भिः। प्रधानस्य प्रधानेन सह विरोधो न तु दुर्बलेनेति हि न्यायः। एवं सत्त्वरजस्तमांस्यपि परस्परं प्राधान्यमात्रं युगपन्न सहन्ते न तु सद्भावमपि।

(२) एतेन परिणामतापसंस्कारदुःखेष्वपि रागद्वेषमोहानां युगपत्सद्भावो व्याख्यातः प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाररूपेण क्लेशानां चतुरवस्थत्वात्। तथा हि—'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः

---

(१) इस प्रकार तीनोंकालमें दुःखसे व्याप्त रहनेके कारण विषयसुख दुःख ही है—यह बताकर स्वरूपतः भी उसकी दुःखरूपता बताते हैं—'गुणवृत्तिविरोधाच्च'—सत्त्व, रज और तम ये गुण सुख-दुःख और मोहरूप हैं तथा परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले होनेपर भी, तैल, बत्ती और अग्नि जिस प्रकार दीपकरूप एक कार्यका आरम्भ करते हैं वैसे ही पुरुषके भोगमें उपयुक्त होकर त्रिगुणमय एक ही कार्य उत्पन्न करते हैं। उस कार्यमें एककी प्रधानता और दोकी गौणता रहनेसे वह कार्य त्रिगुणमय होनेपर भी प्रधान गुणके नामानुसार सात्त्विक, राजस या तामस कहा जाता है। अतः सुखोपभोगरूप प्रत्यय (अनुभव) उद्भूत (प्रकट हुए) सत्त्वगुणका कार्य होनेपर भी अनुद्भूत (अप्रकट) रज और तमका भी कार्य होने से त्रिगुणमय ही है। इस प्रकार सुखरूपताके समान उसकी दुःखरूपता और विषादरूपता भी निश्चित ही है—अतः विवेकीके लिये सब दुःखरूप ही है। इस प्रकारका प्रत्यय भी स्थिर नहीं है, क्योंकि गुणोंकी वृत्ति चञ्चल है, इसलिये चित्त भी तेजीसे परिणामको प्राप्त होनेवाला कहा गया है। 'यदि कहो कि एक ही प्रत्यय एक समयमें परस्पर विरुद्ध सुख-दुःख और मोहका अनुभव कैसे कर सकता है?' तो यह ठीक नहीं, क्योंकि उद्भूत और अनुद्भूत गुणोंमें विरोध नहीं होता। समान वृत्तिवाले गुणोंके ही एक साथ रहनेमें विरोध होता है, विषमवृत्तिवालोंमें नहीं; जिस प्रकार वृत्तियुक्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्योंका ही वृत्तियुक्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्योंसे विरोध होता है, जिनकी स्वरूपतः (संस्काररूपसे) सत्ता है उनसे नहीं। प्रधानका विरोध प्रधानसे ही होता है, दुर्बलसे नहीं—ऐसा न्याय है। अतः सत्त्व, रज और तम भी एक साथ एक-दूसरेकी प्रधानताको ही सहन नहीं कर सकते, सत्ताको भी सहन न करते हों—ऐसी बात नहीं है।

(२) इससे परिणाम, ताप और संस्कार दुःखोंमें भी राग, द्वेष और मोहकी समकालीन सत्ताकी व्याख्या हो जाती है, क्योंकि प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार रूपसे क्लेश चार अवस्थाओंवाले हैं; जैसा कि ये पातञ्जल सूत्र बताते हैं—'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं', 'पीछेके प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार

पञ्च क्लेशाः।' 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।' 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।' 'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता।' 'सुखानुशयी रागः।' 'दुःखानुशयी द्वेषः।' 'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।' 'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।' 'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।' 'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।' 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (पा० द० २।३।१३) इति पातञ्जलानि सूत्राणि। तत्रातस्मिंस्तद्बुद्धिर्विपर्ययो मिथ्याज्ञानमविद्येति पर्यायाः। तस्या विशेषः संसारनिदानम्। तत्रानित्ये नित्यबुद्धिर्यथा—ध्रुवा पृथिवी ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौरमृता दिवौकस इति। अशुचौ परमबीभत्से काये शुचिबुद्धिर्यथा—नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयतीवेति कस्य केन संबन्धः।

'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥'

इति च वैयासिकः श्लोकः। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययोऽनर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः। दुःखे सुखख्यातिरुदाहृता परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति। अनात्मन्यात्मख्यातिर्यथा—शरीरे मनुष्योऽहमित्यादिः। इयं चाविद्या सर्वक्लेशमूलभूता तम

भेदवाले चार क्लेशोंकी अविद्या प्रसवभूमि है', 'अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मरूप विषयोंमें नित्य, शुचि, सुख और आत्मबुद्धि होना अविद्या है', 'दृक् और दर्शनशक्तियोंकी एकरूपता ही अस्मिता है', 'सुखके पीछे रहनेवाला राग है', 'दुःखके पीछे रहनेवाला द्वेष है', 'मूर्खके समान विद्वान्में भी स्वाभाविक रूपसे होनेवाला आग्रह अभिनिवेश है', 'सूक्ष्म होनेपर इन्हें समाधिद्वारा निवृत्त किया जा सकता है', 'इनकी स्थूल वृत्तियोंका ध्यानसे त्याग किया जाता है', 'क्लेश जिसका मूल है उस कर्माशय का दृष्ट (वर्तमान) और अदृष्ट (भावी) जन्मोंमें भोग किया जाता है', 'क्लेशरूप मूलके विद्यमान रहनेपर इस कर्माशयका परिणाम जाति, आयु और भोग होते हैं।' सो जो वस्तु जैसी नहीं है उसे वैसी मानना विपर्यय (विपरीत बुद्धि) है; विपर्यय, मिथ्याज्ञान और अविद्या—ये एक ही अर्थके वाचक हैं। संसारका कारण होना—यह उसका विशेष धर्म है। अनित्यमें नित्यबुद्धि इस प्रकार होती है जैसे—पृथ्वी नित्य है, चन्द्रमा और तारोंके सहित आकाश नित्य है, देवता लोग अमर हैं इत्यादि। अपवित्र—अत्यन्त घृणित शरीरमें पवित्रबुद्धि इस तरह है जैसे—नवीन चन्द्रकलाके समान सुन्दरी यह कन्या मानो मधु और अमृतके अवयवोंकी बनी हुई है, ऐसी जान पड़ती है मानो चन्द्रमाका भेदन करके निकली हो, इसके नेत्र नीलकमलकी पँखुड़ियोंके समान विशाल हैं, उन हावगर्भित नयनोंसे मानो यह जीवलोकको धैर्य बँधाती है—इस प्रकारकी उक्तिमें भला किसका किससे सम्बन्ध है ? इस विषयमें 'उत्पत्तिस्थान, बीज, अस्थि-मांसादि आश्रय, इससे निकलनेवाले पसीने आदि और अन्तमें मरणको प्राप्त होनेके कारण तथा इसमें आरोपित पवित्रता होनेसे पण्डितजन शरीरको अपवित्र ही समझते हैं' ऐसा व्यासजीका भी श्लोक है। इससे अपुण्यमें पुण्यबुद्धि और अनर्थमें अर्थबुद्धिकी भी व्याख्या हो जाती है। दुःखमें सुखबुद्धिका तो 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' इस सूत्रकी व्याख्यामें उदाहरण दे दिया। अनात्मामें आत्मबुद्धि जैसे शरीरमें 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसी बुद्धि होना। यह समस्त क्लेशोंकी मूलभूता अविद्या 'तम' कही जाती है। बुद्धि और पुरुषके अभेदसे जो अभिमान होता है वह अस्मिता 'मोह' है। जिसके पास सुखके

इत्युच्यते। बुद्धिपुरुषयोरभेदाभिमानोऽस्मिता मोहः। साधनरहितस्यापि सर्वं सुखजातीयं मे भूयादिति विपर्ययविशेषो रागः। स एव महामोहः। दुःखसाधने विद्यमानेऽपि किमपि दुःखं मे मा भूदिति विपर्ययविशेषो द्वेषः। स तामिस्रः। आयुरुभावेऽप्येतैः शरीरेन्द्रियादिभिरनित्यैरपि वियोगो मे मा भूदित्याविद्वदङ्गनाबालं स्वाभाविकः सर्वप्राणिसाधारणो मरणत्रासरूपो विपर्ययविशेषोऽभिनिवेशः। सोऽन्धतामिस्रः। तदुक्तं पुराणे—

'तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥' इति।

(१) एते च क्लेशाश्चतुरवस्था भवन्ति। तत्रासतोऽनुत्पत्तेरनभिव्यक्तरूपेणावस्थानं सुप्तावस्था। अभिव्यक्तस्यापि सहकार्यलाभात्कार्याजनकत्वं तन्ववस्था। अभिव्यक्तस्य जनितकार्यस्यापि केनचिद्बलवताऽभिभवो विच्छेदावस्था। अभिव्यक्तस्य प्राप्तसहकारिसंपत्तेरप्रतिबन्धेन स्वकार्यकरत्वमुदारावस्था। एताहगवस्थाचतुष्टयविशिष्टानामस्मितादीनां चतुर्णां विपर्ययरूपाणां क्लेशानामविद्यैव सामान्यरूपा क्षेत्रं प्रसवभूमिः, सर्वेषामपि विपर्ययरूपत्वस्य दर्शितत्वात्। तेनाविद्यानिवृत्त्यैव क्लेशानां निवृत्तिरित्यर्थः। ते च क्लेशाः प्रसुप्ता यथा प्रकृतिलीनानां, तनवः प्रतिपक्षभावनया तनूकृता यथा योगिनाम्। त उभयेऽपि सूक्ष्माः प्रतिप्रसवेन मनोनिरोधेनैव निर्बीजसमाधिना हेयाः। ये तु सूक्ष्मवृत्तयस्तत्कार्यभूताः स्थूला विच्छिन्ना उदाराश्च विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनाऽऽत्मना पुनः प्रादुर्भवन्तीति विच्छिन्नाः, यथा रागकाले क्रोधो विद्यमानोऽपि न प्रादुर्भूत इति विच्छिन्न उच्यते, एवमेकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इति नान्यासु विरक्तः किं त्वेकस्यां रागो लब्धवृत्तिरन्यासु च

साधन नहीं हैं उसे ऐसी बुद्धि होनी कि मुझे सब प्रकारके सुख प्राप्त हो जायँ—यह विपर्ययविशेष राग है। यही 'महामोह' है। दुःखके साधनोंके रहते हुए भी 'मुझे कोई दुःख न हो' ऐसा विपर्ययविशेष द्वेष है। यह 'तामिस्र' है। आयु न रहनेपर भी 'इन अनित्य शरीर और इन्द्रियादिसे मेरा वियोग न हो' ऐसा विद्वान्, स्त्री और बालकपर्यन्त स्वाभाविक रूपसे सभी प्राणियोंमें रहनेवाला जो मरणत्रासरूप विपर्ययविशेष है वह अभिनिवेश है। यह 'अन्धतामिस्र' है। यह बात पुराणमें भी कही है—'तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र नामसे पाँच पर्वोंवाली अविद्या परमात्मासे प्रकट हुई' इत्यादि।

(१) ये क्लेश चार अवस्थाओंवाले होते हैं—असत् क्लेशकी उत्पत्ति न होनेसे उसका अव्यक्तरूपसे रहना सुप्त अवस्था है। अभिव्यक्त होनेपर भी सहकारी न मिलनेसे कार्योत्पादक न होना उसकी तनु अवस्था है। अभिव्यक्त होकर कार्यको उत्पन्न कर देनेपर भी किसी बलवान् कारणसे दब जाना क्लेशकी विच्छिन्न अवस्था है तथा उत्पन्न हुए क्लेशका सहकारी साधनोंको पाकर बिना किसी प्रतिबन्धके अपना कार्य करना उसकी उदार अवस्था है। इस प्रकारकी चार अवस्थाओंसे युक्त अस्मिता आदि चार विपर्ययरूप क्लेशोंकी सामान्यरूपा अविद्या ही क्षेत्र यानी प्रसवभूमि है। इन सभीकी विपर्ययरूपता तो दिखा ही दी गयी है। अतः तात्पर्य यह है कि अविद्या की निवृत्तिसे ही क्लेशोंकी भी निवृत्ति हो सकती है। वे क्लेश प्रसुप्त, जैसे कि प्रकृतिलीनोंके होते हैं और तनु, जैसे कि प्रतिपक्षभावनासे तनु किये हुए योगियोंके क्लेश होते हैं—ऐसे दो प्रकारके क्लेश सूक्ष्मरूपमें होनेपर प्रतिप्रसव—मनोनिरोध अर्थात् निर्बीज समाधिसे त्यागे जा सकते हैं। क्लेशोंकी जो सूक्ष्म वृत्तियाँ हैं उनकी कार्यभूता विच्छिन्न और उदार स्थूल वृत्तियाँ होती हैं। जो बीच-बीचमें विच्छिन्न हो-होकर अपने स्वरूपसे पुनः प्रकट हो जाते हैं वे 'विच्छिन्न क्लेश' कहे जाते हैं। जैसे रागकी वृत्तिके समय क्रोध विद्यमान रहनेपर

भविष्यद्वृत्तिरिति स तदा विच्छिन्न उच्यते, ये यदा विषयेषु लब्धवृत्तयस्ते तदा सर्वात्मना प्रादुर्भूता उदारा उच्यन्ते, त उभयेऽप्यतिस्थूलत्वाच्छुद्धसत्त्वभवेन भगवद्ध्यानेन हेया न मनोनिरोधमपेक्षन्ते। निरोधहेयास्तु सूक्ष्मा एव। तथा च परिणामतापसंस्कारदुःखेषु प्रसुप्ततनुविच्छिन्नरूपेण सर्वे क्लेशाः सर्वदा सन्ति। उदारता तु कदाचित्कस्यचिदिति विशेषः। एते च बाधनालक्षणं दुःखमुपजनयन्तः क्लेशशब्दवाच्या भवन्ति। यतः कर्माशयो धर्माधर्माख्यः क्लेशमूलक एव। सति च मूलभूते क्लेशे तस्य कर्माशयस्य विपाकः फलं जन्माऽऽयुर्भोगश्चेति। स च कर्माशय इह परत्र च स्वविपाकारम्भकत्वेन दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। एवं क्लेशसंततिर्घटीयन्त्रवदनिशमावर्तते। अतः समीचीनमुक्तं ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्त इति। दुःखयोनित्वं परिणामादिभिर्गुणवृत्तिविरोधाच्च आद्यन्तवत्त्वं गुणवृत्तस्य चलत्वादिति योगमते व्याख्या।

(१) औपनिषदानां तु अनादि भावरूपमज्ञानमविद्या। अहंकारधर्म्यध्यासोऽस्मिता। राग-द्वेषाभिनिवेशास्तदवृत्तिविशेषा इत्यविद्यामूलत्वात्सर्वेऽप्यविद्यात्मकत्वेन मिथ्याभूता रज्जुभुजंगाध्यासवन्मिथ्यात्वेऽपि दुःखयोनयः स्वप्नादिवद्दृष्टिसृष्टिमात्रत्वेनाऽऽद्यन्तवन्तश्चेति बुधोऽधिष्ठानसाक्षात्कारेण

भी प्रकट नहीं होता, इसलिये वह 'विच्छिन्न' कहा जाता है। इसी प्रकार एक स्त्रीमें आसक्त चैत्र नामका व्यक्ति दूसरी स्त्रियोंसे विरक्त नहीं होता, किन्तु एकमें तो उसके रागकी वृत्ति उद्बुद्ध है और दूसरियोंमें भविष्यमें उद्बुद्ध हो सकती है; उस समय वह राग विच्छिन्न कहा जाता है। जो क्लेश जिस समय विषयोंमें वृत्तियुक्त होते हैं, उस समय सर्वथा प्रकट हुए वे 'उदार' कहे जाते हैं। ये दो प्रकारके क्लेश अत्यन्त स्थूल होनेके कारण शुद्धसत्त्वमय भगवान्‌के ध्यानसे दूर किये जा सकते हैं, इनके लिये मनोनिरोधकी आवश्यकता नहीं है। निरोधसे तो सूक्ष्मोंका ही त्याग किया जा सकता है। इस प्रकार परिणाम, ताप और संस्कार दुःखोंमें प्रसुप्त तनु और विच्छिन्न रूपसे समस्त क्लेश सर्वदा ही रहते हैं, उदार तो कभी-कभी होते हैं—इतना उनसे इनका अन्तर है। ये पीडारूप दुःखको उत्पन्न करनेवाले होनेसे 'क्लेश' शब्दसे कहे जाते हैं। क्योंकि पुण्य-पापमय कर्माशय क्लेशमूलक ही है इसलिये उसके मूलभूत क्लेशके रहते हुए उस कर्माशयका विपाक अर्थात् फल जन्म, आयु और भोग होते हैं। वह कर्माशय इस लोक और परलोकमें अपने फलका आरम्भ करनेवाला होनेसे दृष्ट और अदृष्ट जन्मोंमें अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार क्लेशोंकी परम्परा घटीयन्त्र के समान निरन्तर चक्कर लगाया करती है। अतः यह ठीक ही कहा है कि जो इन्द्रिय और विषयोंके सम्बन्धसे होनेवाले भोग हैं वह दुःखके ही कारण और आदि-अन्तवाले हैं। उनकी दुःखकारणता परिणामादि दुःखों और गुणोंकी वृत्तियोंके विरोधसे तथा आदि-अन्तवत्ता गुणोंकी वृत्तियोंकी चञ्चलताके कारण है—यह व्याख्या योगके मतानुसार है।

(१) वेदान्तियोंके मतमें तो अनादि भावरूप अज्ञान ही अविद्या है, अहङ्कार और धर्मी (आत्मा) का अध्यास ही अस्मिता है, राग, द्वेष और अभिनिवेश उस अहङ्कारकी वृत्तिविशेष हैं। इस प्रकार अविद्यामूलक होनेसे सभी अविद्यारूप होनेके कारण मिथ्या हैं तथा रज्जुमें सर्पके अध्यासके समान मिथ्याभूत होनेपर भी स्वप्नादिके समान दुःखके कारण और दृष्टि-सृष्टिमात्र होनेसे आदि-अन्तवान् भी हैं—इसलिये बोधवान् पुरुष अधिष्ठानका साक्षात्कार कर लेनेके कारण भ्रम दूर हो जानेसे उनमें प्रीति नहीं करता, जिस प्रकार कि मृगतृष्णाके स्वरूपको जाननेवाला जलकी अभिलाषासे उसमें प्रवृत्त नहीं

निवृत्तभ्रमस्तेषु न रमते, मृगतृष्णिकास्वरूपज्ञानवानिव तत्रोदकार्थी न प्रवर्तते। न संसारे सुखस्य गन्धमात्रमप्यस्तीति बुद्ध्वा ततः सर्वाणीन्द्रियाणि निवर्तयेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

(१) सर्वानर्थप्राप्तिहेतुर्दुर्निवारोऽयं श्रेयोमार्गप्रतिपक्षः कष्टतमो दोषो महता यत्नेन मुमुक्षुणा निवारणीय इति यत्नाधिक्यविधानाय पुनराह—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

(२) आत्मनोऽनुकूलेषु सुखहेतुषु दृश्यमानेषु श्रूयमाणेषु स्मर्यमाणेषु वा तद्गुणानुसंधानाभ्यासेन यो रत्यात्मको गर्धोऽभिलाषस्तृष्णा लोभः स कामः। स्त्रीपुंसयोः परस्परव्यतिकराभिलाषे रूढ्यन्तनिरूढः कामशब्दः। एतदभिप्रायेण कामः क्रोधस्तथा लोभ इत्यत्र धनेतृष्णा लोभः स्त्रीव्यतिकरतृष्णा काम इति कामलोभौ पृथगुक्तौ। इह तु तृष्णासामान्याभिप्रायेण कामशब्दः प्रयुक्त इति लोभः पृथङ्नोक्तः। एवमात्मनः प्रतिकूलेषु दुःखहेतुषु दृश्यमानेषु श्रूयमाणेषु स्मर्यमाणेषु वा तद्दोषानुसंधानाभ्यासेन यः प्रज्वलनात्मको द्वेषो मन्युः स क्रोधः। तयोरुत्कटावस्था लोकवेदविरोधप्रतिसंधानप्रतिबन्धकतया लोकवेदविरुद्धप्रवृत्त्युन्मुखत्वरूपा नदीवेगसाम्येन वेग इत्युच्यते। यथा हि नद्या वेगो वर्षास्वतिप्रबलतया लोकवेदविरोधप्रतिसंधानेनानिच्छन्तमपि गर्ते पातयित्वा मज्जयति बाधो नयति च, तथा कामक्रोधयोरपि वेगो विषयाभिध्यानाभ्यासेन वर्षाकालस्थानीयेनातिप्रबलो

होता। तात्पर्य यह है कि संसारमें सुखका गन्धमात्र भी नहीं है—ऐसा जानकर उससे समस्त इन्द्रियोंको निवृत्त करे ॥ २२ ॥

(१) समस्त अनर्थोंकी प्राप्तिका हेतुभूत एवं कल्याणमार्गका प्रतिपक्षी यह अत्यन्त कष्टमय दोष बड़ी कठिनतासे दूर होनेवाला है, अतः मुमुक्षुको अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक इसे निवृत्त करना चाहिये—इस प्रकार इसकी निवृत्तिके लिये विशेष यत्नका विधान करनेके लिये कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जो शरीर छूटनेसे पहले यहीं (बाह्य इन्द्रियोंके व्यापाररूप गड्ढेमें गिरनेसे पहले ही) काम और क्रोधसे उत्पन्न हुए वेगको सह सकता है वही योगी है, वही सुखी है और वही पुरुष है ॥ २३ ॥]

(२) दीखनेवाले, सुनाई देनेवाले और स्मृतिमें आनेवाले अपने अनुकूल और सुखके हेतुभूत विषयोंमें जो उनके गुणानुसन्धानके अभ्यासवश रागात्मक गर्ध—अभिलाषा—तृष्णा अर्थात् लोभ होता है उसे 'काम' कहते हैं। 'काम' शब्द स्त्री और पुरुषके पारस्परिक समागममें तो बहुत ही रूढ है। इसीसे 'कामः क्रोधस्तथा लोभः' (१६।२१) इस स्थानमें धनकी तृष्णाको 'लोभ' और स्त्री-पुरुषोंके समागमकी तृष्णाको 'काम' इस प्रकार अलग-अलग कहा है। यहाँ तो तृष्णामें समानताके अभिप्रायसे 'काम' शब्दका प्रयोग हुआ है, इसलिये उसे अलग नहीं कहा। इसी प्रकार अपने प्रतिकूल दिखायी देनेवाले, सुननेमें आनेवाले और स्मृतिमें आनेवाले दुःखके हेतुभूत विषयोंमें उनके दोषानुसन्धानके अभ्याससे जो जलन पैदा करनेवाला द्वेष या रोष होता है उसे 'क्रोध' कहते हैं। इन दोनोंकी जो उत्कट अवस्था है वह लोक और वेदके विरोधानुसन्धानमें प्रतिबन्धक होनेके कारण लोक और वेदसे विरुद्ध प्रवृत्तिकी उन्मुखतारूप है; अतः नदीके वेगके समान होनेसे वह 'वेग' कही गयी है। जिस प्रकार नदीका वेग वर्षाकालमें अत्यन्त प्रबल होनेके कारण लोक और वेदके विरोधका विचार करके इच्छा

लोकवेदविरोधप्रतिसंधानेनानिच्छन्तमपि विषयगर्ते पातयित्वा संसारसमुद्रे मज्जयति चाधो महानरकान्नयति चेति वेगपदप्रयोगेण सूचितम् । एतच्चाथ केन प्रयुक्तोऽयमित्यत्र विवृतम् ।

(१) तमेतादृशं कामक्रोधोद्भवं वेगमन्तःकरणप्रक्षोभरूपं स्तम्भस्वेदाद्यनेकबाह्यविकारलिङ्गमाशरीरविमोक्षणाच्छरीरविमोक्षणपर्यन्तमनेकनिमित्तवशात्सर्वदा संभाव्यमानत्वेनाविस्रम्भणीयमन्तरुत्पन्नमात्रमिहैव बहिरिन्द्रियव्यापाररूपाद्गर्तपतनात्प्रागेव यो यतिर्धीरस्तितिर्मिंगिल इव नदीवेगं विषयदोषदर्शनाभ्यासजेन वशीकारसंज्ञकवैराग्येण सोढुं तदनुरूपकार्यासंपादनेनानर्थकं कर्तुं शक्नोति समर्थो भवति, स एव युक्तो योगी, स एव सुखी, स एव नरः सुमान्पुरुषार्थसंपादनात्, तदितरस्त्वाहारनिद्राभयमैथुनादिपशुधर्ममात्ररतत्वेन मनुष्याकारः पशुरेवेति भावः ।

(२) आशरीरविमोक्षणादित्यत्रान्यद्व्याख्यानम्—यथा मरणादूर्ध्वं विलपन्तीभिर्युवतीभिरालिङ्ग्यमानोऽपि पुत्रादिभिर्दह्यमानोऽपि प्राणशून्यत्वात्कामक्रोधवेगं सहते, तथा मरणात्प्रागपि जीवन्नेव यः सहते स युक्त इत्यादि । अत्र यदि मरणवज्जीवनेऽपि कामक्रोधानुत्पत्तिमात्रं ब्रूयात्तदैतद्युज्येत । यथोक्तं वसिष्ठेन—

'प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति ।
तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥' इति ।

न करनेवाले भी मनुष्यको गड्ढेमें गिराकर डुबो देता है और नीचेकी ओर ले जाता है, उसी प्रकार काम और क्रोधका वेग भी वर्षाकालस्थानीय विषयचिन्तनके अभ्याससे अत्यन्त प्रबल होकर, लोक और वेदके विरोधका ज्ञान होनेके कारण इच्छा न करनेवाले पुरुषको भी विषयके गड्ढेमें गिराकर संसार-समुद्रमें डुबो देता है तथा नीचेकी ओर महान् नरकोंमें ले जाता है—यह बात 'वेग' पदके प्रयोगसे सूचित की है। इसका स्पष्टीकरण 'अथ केन प्रयुक्तोऽयम्' (३।३६) इस स्थलपर किया गया है।

(१) अन्तःकरणके प्रक्षोभरूप तथा स्तम्भ-स्वेद आदि अनेकों बाह्य विकाररूप लिङ्गवाले उस इस प्रकारके काम-क्रोधजनित वेगको इहैव—(यहाँ ही) अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंके व्यापाररूप गड्ढेमें गिरनेसे पहले ही जो धीर यति महामत्स्यके समान नदी-वेगरूप विषयोंके दोषदर्शनके अभ्याससे उत्पन्न हुए वशीकारसंज्ञक वैराग्यसे सहनेमें—उसके अनुरूप कार्य न करके उसे निरर्थक करनेमें समर्थ होता है वही युक्त—योगी है, वही सुखी है और वही नर अर्थात् पुरुषार्थ करनेके कारण पुरुष है। भाव यह है कि उससे भिन्न व्यक्ति तो आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि पशुधर्मोंमें ही रत होनेके कारण मनुष्यके आकारमें पशु ही है।

(२) 'प्राक्शरीरविमोक्षणात्' इसकी एक दूसरी व्याख्या भी है—जिस प्रकार मनुष्य मरनेके पश्चात् विलाप करती हुई युवतियोंसे आलिङ्गित और पुत्रादिसे दग्ध किये जानेपर भी प्राणशून्य होनेके कारण काम और क्रोधके वेगको सह लेता है उसी प्रकार जो मरनेसे पहले भी—जीवित रहते हुए भी इनके वेगको सह लेता है वह युक्त इत्यादि है। यहाँ यदि मरणावस्थाके समान जीवनावस्थामें भी काम और क्रोधकी अनुत्पत्तिमात्र कही जाती तो यह व्याख्या ठीक हो सकती थी, जैसा कि वसिष्ठजीने कहा है—'प्राण चले जानेपर जिस प्रकार शरीर सुख-दुःखका अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार यदि प्राणोंके रहते हुए भी उनका अनुभव न करे तो उसे मोक्षपद प्राप्त होता है।' किन्तु यहाँ तो उत्पन्न हुए काम और क्रोधके वेगको सहनेका प्रसङ्ग है इसलिये उनकी अनुत्पत्तिमात्र

इह तूत्पन्नयोः कामक्रोधयोर्वेगसहने प्रस्तुते तयोरनुत्पत्तिमात्रं न दार्ष्टान्त इति किमतिनिर्बन्धेन ॥२३॥

(१) कामक्रोधवेगसहनमात्रेणैव मुच्यत इति न, किं तु—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

(२) अन्तर्बाह्यविषयनिरपेक्षमेव स्वरूपभूतं सुखं यस्य सोऽन्तःसुखो बाह्यविषयजनितसुखशून्य इत्यर्थः । कुतो बाह्यसुखाभावस्तत्राऽऽह—अन्तरात्मन्येव न तु स्त्र्यादिविषये बाह्यसुखसाधन आरामः आरमणं क्रीडा यस्य सोऽन्तरारामस्त्यक्तसर्वपरिग्रहत्वेन बाह्यसुखसाधनशून्य इत्यर्थः । ननु त्यक्तसर्वपरिग्रहस्यापि यतेर्यदृच्छोपनतैः कोकिलादिमधुरशब्दश्रवणमन्दपवनस्पर्शनचन्द्रोदयमयूरनृत्यादिदर्शनातिमधुरशीतलगङ्गोदकपानकेतकीकुसुमसौरभाघ्रवघ्राणादिभिर्ग्राम्यैः सुखोत्पत्तिसंभवात्कथं बाह्यसुखतत्साधनशून्यत्वमिति तत्राऽऽह—तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः । यथाऽन्तरेव सुखं न बाह्यैर्विषयैस्तथाऽन्तरेवाऽऽत्मनि ज्योतिर्विज्ञानं न बाह्यैरिन्द्रियैर्यस्य सोऽन्तर्ज्योतिः श्रोत्रादिजन्यशब्दादिविषयविज्ञानरहितः । एवकारो विशेषणत्रयेऽपि संबध्यते । समाधिकाले शब्दादिप्रतिभासाभावाद्व्युत्थानकाले तत्प्रतिभासेऽपि मिथ्यात्वनिश्चयान्न बाह्यविषयैस्तस्य सुखोत्पत्तिसंभव इत्यर्थः ।

(३) य एवं यथोक्तविशेषणसंपन्नः स योगी समाहितो ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्म परमानन्दरूपं

इसका दृष्टान्त नहीं हो सकता; अतः इस प्रकारकी व्याख्यामें विशेष आग्रह रखनेका क्या प्रयोजन है ॥ २३ ॥

(१) काम और क्रोधके वेगको सहनेसे ही मुक्त होता हो—ऐसी बात नहीं है, किन्तु—

[श्लोकार्थः—आत्मामें ही रमण और आत्मामें ही विज्ञानयुक्त होनेके कारण जो बाह्य विषयोंकी अपेक्षासे रहित स्वरूपभूत सुख ही भोगता है वह ब्रह्मभूत योगी ब्रह्मरूप शान्ति प्राप्त करता है ॥ २४ ॥]

(२) जिसे अन्तः-बाह्य विषयोंकी अपेक्षासे रहित स्वरूपभूत सुख है ऐसा जो अन्तःसुख है अर्थात् बाह्यविषयजनित सुखसे रहित है उसे बाह्य सुखका अभाव क्यों है ? इसपर कहते हैं—'अन्तरारामः' जिसका अन्तः अर्थात् आत्मामें ही, स्त्री आदि बाह्य सुखके साधनोंमें नहीं, आराम—आरमण अर्थात् क्रीडा है ऐसा जो अन्तरारम है; अर्थात् सब प्रकारके परिग्रहको त्यागनेवाला होनेसे जो बाह्य सुखसाधनोंसे रहित है। 'किन्तु सब प्रकारके परिग्रहका त्याग करनेवाले यतिको भी अयत्नसाध्य कोकिल आदिके मधुर शब्दोंके श्रवण, मन्दपवनके स्पर्श, चन्द्रोदय और मयूरनृत्यादिके दर्शन, अत्यन्त मधुर शीतल गङ्गाजलके पान तथा केवड़ाके फूलकी सुगन्धादिके सूँघनेसे विषयसुखकी उत्पत्ति होनी सम्भव ही है, तो उसे बाह्य सुख और उसके साधनोंका अभाव कैसे कहा जा सकता है ?' इसपर कहते हैं—'तथा जो अन्तर्ज्योति ही है'—जिस प्रकार उसे अन्तःसुख ही है, बाह्य विषयोंसे सुख नहीं है, वैसे ही उसे अन्तः अर्थात् आत्मामें ही ज्योति—विज्ञान है, बाह्य इन्द्रियोंसे नहीं—ऐसा जो अन्तर्ज्योति अर्थात् श्रोत्रादिसे होनेवाले शब्दादि विज्ञानसे रहित है। यहाँ एवकारका सम्बन्ध तीनों विशेषणोंसे है। तात्पर्य यह है कि समाधिकालमें शब्दादिकी प्रतीतिका अभाव रहनेसे तथा व्युत्थानकालमें प्रतीति रहनेपर भी उसके मिथ्यात्वका निश्चय रहनेसे उसे बाह्य विषयोंसे सुख होना असम्भव है।

(३) जो इस प्रकार उपर्युक्त विशेषणोंसे सम्पन्न है वह योगी समाधिस्थ होकर

कल्पितद्वैतोपशमरूपत्वेन निर्वाणं तदेव, कल्पितभावस्याधिष्ठानात्मकत्वात्, अविद्यावरणनिवृत्त्याऽधिगच्छति नित्यप्राप्तमेव प्राप्नोति। यतः सर्वदैव ब्रह्मभूतो नान्यः, 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' इति श्रुतेः, 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' इति न्यायाच्च ॥ २४ ॥

(१) मुक्तिहेतोर्ज्ञानस्य साधनान्तराणि विवृण्वन्नाह—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५ ॥

(२) प्रथमं यज्ञादिभिः क्षीणकल्मषाः, ततोऽन्तःकरणशुद्धया—ऋषयः सूक्ष्मवस्तुविवेचनसमर्थाः संन्यासिनः, ततः श्रवणादिपरिपाकेण छिन्नद्वैधा निवृत्तसर्वसंशयाः, ततो निदिध्यासनपरिपाकेण संयतात्मानः परमात्मन्येवैकाग्रचित्ताः। एताद्दशाश्च द्वैतादर्शित्वेन सर्वभूतहिते रता हिंसाशून्या ब्रह्मविदो ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते,

'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥' इति श्रुतेः।

बहुवचनं, 'तद्यो यो देवानाम्' इत्यादिश्रुत्युक्तानियमप्रदर्शनार्थम् ॥ २६ ॥

(३) पूर्वं कामक्रोधयोरुत्पन्नयोरपि वेगः सोढव्य इत्युक्तमधुना तु तयोरुत्पत्तिप्रतिबन्ध एव कर्तव्य इत्याह—

ब्रह्मनिर्वाण—कल्पित द्वैतकी निवृत्ति हो जानेसे ब्रह्म अर्थात् परमानन्दरूप जो निर्वाण है उस नित्यप्राप्त को ही, कल्पित द्वैतके अभावका अधिष्ठानरूप होनेसे, अविद्यारूप आवरणकी निवृत्ति होनेपर, अधिगत—प्राप्त करता है; क्योंकि वह सर्वदा ब्रह्मभूत ही है, कोई अन्य नहीं है। यह बात 'ब्रह्म हुआ ही ब्रह्मको प्राप्त करता है' इस श्रुतिसे तथा 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः'[1] (१।४।२२) इस सूत्रसे भी सिद्ध होती है ॥ २४ ॥

(१) मुक्तिके हेतुभूत ज्ञानके दूसरे साधनोंका विवरण करते हुए कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जिनके समस्त पाप क्षीण हो गये हैं ऐसे सूक्ष्म वस्तुको ग्रहण करनेमें समर्थ, संशयशून्य, एकाग्रचित्त और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप निर्वाण प्राप्त करते हैं ॥ २५ ॥]

(२) पहले जो यज्ञादि द्वारा पापरहित हो गये हैं, फिर जो अन्तःकरणकी शुद्धिके कारण ऋषि—सूक्ष्म वस्तुका विवेचन करनेमें समर्थ संन्यासी हैं, तत्पश्चात् श्रवणादिकी पुष्टि होनेसे जो छिन्नद्वैधा हैं अर्थात् जिनके सब संशय निवृत्त हो गये हैं, फिर निदिध्यासनके परिपाकसे जो संयतात्मा—परमात्मामें ही एकाग्रचित्त हैं, ऐसे होकर भी जो द्वैतदर्शी न होनेके कारण समस्त प्राणियोंके हितमें रत अर्थात् हिंसाशून्य हैं वे ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं; जैसा कि 'जिस अवस्थामें ब्रह्मवेत्ताको सब प्राणी आत्मा ही जान पड़ते हैं उसमें उस एकत्व देखनेवालेको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। यहाँ जो बहुवचन है वह 'तद्यो यो देवानाम्'[2] इत्यादि श्रुतिमें कहे हुए नियमको प्रदर्शित करनेके लिये है ॥ २५ ॥

(३) पहले तो यह कहा था कि उत्पन्न हुए भी काम और क्रोधका वेग सहना चाहिये, किन्तु अब यह बताते हैं कि उनकी उत्पत्तिकी ही रोक कर देनी चाहिये—

---

१. काशकृत्स्न आचार्य कहते हैं कि परमात्मा ही जीव रूपसे अवस्थित है।
२. इस श्रुतिका अर्थ सोलहवें श्लोककी टीकामें देखिये।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६ ॥

(१) कामक्रोधयोर्वियोगस्तदनुत्पत्तिरेव तद्युक्तानां कामक्रोधवियुक्तानाम्। अत एव यतचेतसां संयतचित्तानां यतीनां यत्नशीलानां संन्यासिनां विदितात्मनां साक्षात्कृतपरमात्मनामभित उभयतो जीवतां मृतानां च तेषां ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षो वर्तते नित्यत्वात्, न तु भविष्यति साध्यत्वाभावात् ॥ २६ ॥

(२) पूर्वमीश्वरार्पितसर्वभावस्य कर्मयोगेनान्तःकरणशुद्धिस्ततः सर्वकर्मसंन्यासस्ततः श्रवणादिपरस्य तत्त्वज्ञानं मोक्षसाधनमुदेतीत्युक्तम्। अधुना स योगी ब्रह्मनिर्वाणमित्यत्र सूचितं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गसाधनं विस्तरेण वक्तुं सूत्रस्थानीयांस्त्रीञ्श्लोकानाह भगवान्। एतेषामेव वृत्तिस्थानीयः कृत्स्नः षष्ठोऽध्यायो भविष्यति। तत्रापि द्वाभ्यां संक्षेपेण योग उच्यते। तृतीयेन तु तत्फलं परमात्मज्ञानमिति विवेकः—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ २८ ॥

[श्लोकार्थः—जो काम-क्रोधसे रहित, संयतचित्त और परमात्माका साक्षात्कार किये हुए हैं उन यतियोंकी जीवित रहते और मरनेके पश्चात् दोनों प्रकार मुक्ति विद्यमान है ॥२६॥]

(१) काम-क्रोधका वियोग उनकी उत्पत्ति न होना ही है उससे युक्त अर्थात् काम-क्रोधसे रहित, अतः यतचित्त—संयतचित्त और विदितात्मा—परमात्माका साक्षात्कार किये हुए यतियों—यत्नशील संन्यासियोंका ब्रह्मनिर्वाण—मोक्ष अभितः—जीवित रहते और मरनेके पश्चात् दोनों प्रकार विद्यमान है, क्योंकि वह नित्य ही है, वह साध्य नहीं है, इसलिये 'होगा'—ऐसी बात नहीं है ॥ २६ ॥

(२) पहले जिसने समस्त पदार्थोंको ईश्वरके अर्पण कर दिया है उसे कर्मयोगके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होती है, फिर समस्त कर्मोंका त्याग होता है, उसके पश्चात् श्रवणादिमें तत्पर होनेपर उसे मोक्षका साधनभूत तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है—यह यहाँ तक बताया गया। अब 'स योगी ब्रह्मनिर्वाणम्' इससे सूचित ध्यानयोगका, जो सम्यग्दर्शनका अन्तरङ्ग साधन है, विस्तारसे वर्णन करनेके लिये भगवान् उसके सूत्ररूप तीन श्लोक कहते हैं। सारा छठा अध्याय इन्हींकी व्याख्यारूप होगा। इनमें भी पहले दो से संक्षेपमें योगका वर्णन किया जाता है तथा तीसरेसे उसका फलरूप आत्मज्ञान—ऐसा इनका अन्तर समझना चाहिये—

[श्लोकार्थः—जो मुनि शब्दादि बाह्य विषयोंको बाहर कर, नेत्रोंको भ्रुकुटिके बीचमें लगा, प्राण और अपानको समान करके नासिकाके भीतर ही गतिशील कर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको वशमें कर तथा इच्छा, भय और क्रोधसे मुक्त हो मोक्षमें तत्पर रहता है वह सर्वदा मुक्त ही है ॥ २७-२८ ॥]

(१) स्पर्शान्शब्दादीन्बाह्यान्बहिर्भवानपि श्रोत्रादिद्वारा तत्तदाकारान्तःकरणवृत्तिभिरन्तः-प्रविष्टान्पुनर्बहिरेव कृत्वा परवैराग्यवशेन तत्तदाकारां वृत्तिमनुत्पाद्येत्यर्थः । यद्येत आन्तरा भवेयुस्त-दोपायसहस्रेणापि बहिर्न स्युः स्वभावभङ्गप्रसङ्गात् । बाह्यानां तु रागवशादन्तःप्रविष्टानां वैराग्येण बहिर्गमनं संभवतीति वदितुं बाह्यानिति विशेषणम् । तदनेन वैराग्यमुक्त्वाऽभ्यासमाह—चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः, कृत्वेत्यनुषज्यते । अत्यन्तनिमीलने हि निद्राख्या लयात्मिका वृत्तिरेका भवेत् । प्रसारणे तु प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृतयश्चतस्रो विक्षेपात्मिका वृत्तयो भवेयुः । पञ्चापि तु वृत्तयो निरोद्धव्या इति अर्धनिमीलनेन भ्रूमध्ये चक्षुषो निधानम् । तथा प्राणापानौ समौ तुल्यावूर्ध्वाधोगतिविच्छेदेन नासाभ्यन्तरचारिणौ कुम्भकेन कृत्वा, अनेनोपायेन यतः संयता इन्द्रियमनोबुद्धयो यस्य स तथा । मोक्षपरायणः सर्वविषयविरक्तो मुनिर्मननशीलो भवेत् । विगतेच्छाभयक्रोध इति वीतरागभयक्रोध इत्यत्र व्याख्यातम् । एतादृशो यः संन्यासी सदा भवति मुक्त एव सः । न तु तस्य मोक्षः कर्तव्योऽस्ति । अथवा य एतादृशः स सदा जीवन्नपि मुक्त एव ॥ २७–२८ ॥

(२) एवं योगयुक्तः किं ज्ञात्वा मुच्यत इति तदाह—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(१) शब्दादि बाह्य विषयोंको, जो बाहर होनेपर भी श्रोत्रादिके द्वारा अन्तःकरणकी उन-उनका आकार धारण करनेवाली वृत्तियोंसे भीतर घुसे हुए हैं, पुनः बाहर कर अर्थात् परवैराग्यके द्वारा उन-उनके आकारकी वृत्ति उत्पन्न न करके । यदि ये विषय भीतर होते तो सहस्रों उपाय करनेसे भी बाहर नहीं हो सकते थे, क्योंकि ऐसा होनेसे इनके स्वभावके भङ्गका प्रसङ्ग हो जाता; बाह्य होकर भी रागवश भीतर घुसे होनेपर तो वैराग्य द्वारा इनका बाहर निकलना सम्भव है—यह बतानेके लिये 'बाह्यान्' यह विशेषण दिया है । इस प्रकार इससे वैराग्यका निरूपण करके अब अभ्यास का प्रतिपादन करते हैं—नेत्रोंको भ्रुकुटियोंके बीचमें करके । 'कृत्वा (करके)' इस पदका सम्बन्ध यहाँ भी लगाना चाहिये । यदि नेत्रोंको बहुत मूँद लिया जायगा तो निद्रा नामकी लयरूपा एक वृत्ति होगी और यदि खुला रखा जायगा तो प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति ये चार विक्षेपरूपा वृत्तियाँ होंगी । इन पाँचों वृत्तियोंको रोकना है, इसलिये अधखुले रूपसे नेत्रोंको भ्रुकुटियोंके बीचमें लगाना चाहिये । तथा प्राण और अपानको सम अर्थात् इनकी ऊपर-नीचेकी गतियोंको रोककर कुम्भकके द्वारा समान—नासिकाके भीतर चलने-वाले करके । इस उपायसे जिसके इन्द्रिय, मन और बुद्धि यत अर्थात् संयत हैं वह मुनि—मननशील मोक्षपरायण—समस्त विषयोंसे विरक्त हो तथा विगतेच्छाभयक्रोध हो 'विगतेच्छाभयक्रोधः' इसकी व्याख्या 'वीतरागभयक्रोधः' (२।५६) इस स्थलपर कर दी है । ऐसा जो संन्यासी है वह तो सर्वदा मुक्त है, उसके लिये मोक्ष कर्तव्य नहीं है । अथवा जो ऐसा है वह जीवित रहते हुए भी सर्वदा मुक्त ही है ॥ २७–२८ ॥

(२) इस प्रकार योगसे युक्त पुरुष क्या जानकर मुक्त हो जाता है, सो बताते हैं—

[श्लोकार्थः—यज्ञ और तपोंके भोक्ता, समस्त लोकोंके महेश्वर तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् मुझको जानकर वह शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ २९ ॥]

(१) सर्वेषां यज्ञानां तपसां च कर्तृरूपेण देवतारूपेण च भोक्तारं भोगकर्तारं पालकमिति वा । 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इति धातुः । सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरं हिरण्यगर्भादीनामपि नियन्तारं, सर्वेषां प्राणिनां सुहृदं प्रत्युपकारनिरपेक्षतयोपकारिणं सर्वान्तर्यामिणं सर्वभासकं परिपूर्ण-सच्चिदानन्दैकरसं परमार्थसत्यं सर्वात्मानं नारायणं मां ज्ञात्वाऽऽत्मत्वेन साक्षात्कृत्य शान्तिं सर्व-संसारोपरतिं मुक्तिमृच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः । त्वां पश्यन्नपि कथं नाहं मुक्त इत्याशङ्कानिराकरणाय विशेषणानि । उक्तरूपेणैव मम ज्ञानं मुक्तिकारणमिति भावः ॥ २९ ॥

(२) अनेकसाधनाभ्यासनिष्पन्नं हरिणेरितम् ।
स्वस्वरूपपरिज्ञानं सर्वेषां मुक्तिसाधनम् ॥ १ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां स्वस्वरूपपरिज्ञानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(१) समस्त यज्ञ और तपोंके कर्ता तथा देवतारूपसे भोक्ता—भोग करनेवाले अथवा पालन करनेवाले, क्योंकि 'भुज धातु पालन और भोजन करनेके अर्थमें है' ऐसा धातुपाठ है । समस्त लोकोंके महान् ईश्वर अर्थात् हिरण्यगर्भ आदिके भी नियन्ता तथा समस्त प्राणियोंके सुहृद्—प्रत्युपकारकी अपेक्षा न रखकर उपकार करनेवाले सर्वान्तर्यामी, सबके प्रकाशक, परिपूर्णसच्चिदानन्दैकरस, परमार्थसत्य, सर्वात्मा, नारायण मुझको जानकर—आत्मभावसे साक्षात्कार कर शान्ति अर्थात् सम्पूर्ण संसारकी निवृत्तिरूप मुक्तिको 'ऋच्छति'—प्राप्त कर लेता है—ऐसा इसका तात्पर्य है । 'आपको देखते हुए भी मैं मुक्त क्यों नहीं हुआ ?' इस आशङ्काकी निवृत्तिके लिये ये सब विशेषण दिये हैं । भाव यह है कि यहाँ कहे हुए प्रकारसे ही मेरा ज्ञान मुक्तिका कारण होता है ॥ २९ ॥

(२) इस अध्यायमें भगवान्‌ने सबकी मुक्तिका साधन तथा अनेकों साधनोंके अभ्याससे होनेवाला अपने स्वरूपका ज्ञान कहा है ॥ ३० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीयपादशिष्यश्रीमधुसूदन-सरस्वतीविरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकाटीकाके हिन्दीभाषान्तरका संन्यासयोग नामका पाँचवाँ अध्याय ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

(१) योगसूत्रं त्रिभिः श्लोकैः पञ्चमान्ते यदीरितम् ।
षष्ठस्त्वारभ्यतेऽध्यायस्तद्व्याख्यानाय विस्तरात् ॥ १ ॥

(२) तत्र सर्वकर्मत्यागेन योगं विधास्यंस्त्याज्यत्वेन हीनत्वमाशङ्क्य कर्मयोगं स्तौति द्वाभ्याम्—

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

(३) कर्मणां फलमनाश्रितोऽनपेक्षमाणः फलाभिसंधिरहितः सन्कार्यं कर्तव्यतया शास्त्रेण विहितं नित्यमग्निहोत्रादि कर्म करोति यः स कर्म्यपि सन्संन्यासी च योगी चेति स्तूयते ।

(४) संन्यासो हि त्यागः । चित्तगतविक्षेपाभावश्च योगः । तौ चास्य विद्येते फलत्यागात् फलतृष्णारूपचित्तविक्षेपाभावाच्च । कर्मफलतृष्णात्याग एवात्र गौण्या वृत्त्या संन्यासयोगशब्दाभ्यामभिधीयते सकामानपेक्ष्य प्राशस्त्यकथनाय । अवश्यंभाविनौ हि निष्कामकर्मानुष्ठातुर्मुख्यौ संन्याससयोगौ । तस्मादयं यद्यपि न निरग्निरक्रियसाध्यश्रौतकर्मत्यागी न भवति, न चाक्रियोऽग्निनिरपेक्षस्मार्तक्रियात्यागी च न भवति, तथाऽपि संन्यासी योगी चेति मन्तव्यः ।

(आत्मसंयमयोग)

(१) पाँचवें अध्यायके अन्तमें तीन श्लोकोंसे भगवान्‌ने जो सूत्ररूपसे योगका उल्लेख किया है उसकी विस्तारसे व्याख्या करनेके लिये छठा अध्याय प्रारम्भ किया जाता है ।

(२) उसमें समस्त कर्मोंके त्याग द्वारा योगका विधान करनेकी इच्छावाले श्रीभगवान् 'त्याज्य होनेके कारण कर्मयोग नीची कोटि का है' ऐसी अर्जुनकी ओरसे आशंका करके दो श्लोकोंसे कर्मयोगकी स्तुति करते हैं—

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान्‌ने कहा—जो पुरुष कर्मफलकी इच्छा न रखकर अपने कर्त्तव्य कर्मोंको करता है वही संन्यासी है और वही योगी भी है; निरग्नि (अग्निसाध्य श्रौत कर्मोंको त्यागनेवाला) या अक्रिय (स्मार्त कर्मोंको त्याग देनेवाला) नहीं ॥ १ ॥]

(३) जो कर्मोंके फलको आश्रित न करके—उनकी अपेक्षा न रखकर अर्थात् फलकी इच्छासे रहित होकर कार्य—शास्त्रद्वारा कर्त्तव्यरूपसे विहित अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करता है वह कर्मी होनेपर भी संन्यासी है और योगी है—इस प्रकार उसकी स्तुति की जाती है ।

(४) संन्यास तो त्यागको ही कहते हैं और चित्तगत विक्षेपके अभावका नाम योग है । फलका त्याग और फलकी तृष्णारूप निक्षेपका अभाव होनेके कारण इस निष्काम-कर्मयोगीमें ये दोनों रहते हैं । सकाम पुरुषोंकी अपेक्षा उसकी उत्कृष्टता बतानेके लिये यहाँ कर्मफलकी तृष्णाके त्यागको ही गौणी वृत्तिसे 'संन्यास' और 'योग' शब्दोंसे कहा गया है, क्योंकि निष्काम कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषको मुख्य संन्यास और

(१) अथवा न निरग्निर्न चाक्रियः संन्यासी योगी चेति मन्तव्यः । किंतु साग्निः सक्रियश्च निष्कामकर्मानुष्ठायी संन्यासी योगी चेति मन्तव्य इति स्तूयते । 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वान्' इत्यत्रेव प्रशंसालक्षणया नञन्वयोपपत्तिः । अत्र चाक्रिय इत्यनेनैव सर्वकर्मसंन्यासिनि लब्धे निरग्निरिति व्यर्थं स्यादित्यग्निशब्देन सर्वाणि कर्माण्युपलक्ष्य निरग्निरिति संन्यासी क्रियाशब्देन चित्तवृत्तीरुपलक्ष्याक्रिय इति निरुद्धचित्तवृत्तियोगी च कथ्यते । तेन न निरग्निः संन्यासी मन्तव्यो न चाक्रियो योगी मन्तव्य इति यथासंख्यमुभयव्यतिरेको दर्शनीयः । एवं सति नञ्द्वयमप्युपपन्नमिति द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

(२) असंन्यासेऽपि संन्यासशब्दप्रयोगे निमित्तभूतं गुणयोगं दर्शयितुमाह—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

(३) यं सर्वकर्मतत्फलपरित्यागं संन्यासमिति प्राहुः श्रुतयः 'न्यास एवात्यरेचयत्' 'ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इत्याद्याः, योगं फलतृष्णाकर्तृत्वाभिमानयोः परित्यागेन विहितकर्मानुष्ठानं तं संन्यासं विद्धि हे पाण्डव । अब्रह्मदत्तं

योगका होना भी निश्चित ही है । इसलिये यद्यपि यह निरग्नि—अग्निसाध्य श्रौत कर्मोंका त्याग करनेवाला नहीं है और न अक्रिय—अग्निकी अपेक्षासे रहित स्मार्त कर्मोंका ही त्याग करनेवाला है, तो भी यह संन्यासी और योगी है—ऐसा मानना चाहिये ।

(१) अथवा 'निरग्नि और अक्रिय पुरुष संन्यासी और योगी होता है—ऐसा नहीं मानना चाहिये, अपि तु साग्नि और सक्रिय होकर भी निष्काम कर्म का अनुष्ठान करनेवाला ही संन्यासी और योगी है—ऐसा मानना चाहिये' इस प्रकार निष्काम-कर्मीकी स्तुति की जाती है । 'गौ और घोड़ेसे भिन्न जीव पशु नहीं हैं, गौ और घोड़े ही पशु हैं' इस उक्तिमें जिस प्रकार प्रशंसा अर्थमें नञ् का अन्वय है उसी प्रकार यहाँ भी उसका अन्वय उपपन्न है । यहाँ 'अक्रियः' इस पदसे ही सर्व कर्मोंका संन्यास करनेवाला लिया जा सकता था, अतः 'निरग्निः' यह पद व्यर्थ ही होगा । इसलिये 'अग्नि' शब्दसे समस्त कर्मोंको उपलक्षित कर 'निरग्निः' शब्दसे संन्यासी और 'क्रिया' शब्दसे चित्तवृत्तियोंको उपलक्षित कर 'अक्रियः' शब्दसे जिसकी चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हैं वह योगी कहा जाता है । अतः निरग्निको संन्यासी और अक्रियको योगी नहीं मानना चाहिये अपितु क्रमशः दोनोंका व्यतिरेक ही देखना चाहिये—ऐसा होनेपर दोनों नकार उपपन्न हो सकते हैं—ऐसा समझना चाहिये ॥ १ ॥

(२) जो संन्यास नहीं है उसमें भी 'संन्यास' शब्दका प्रयोग होनेमें हेतुभूत गुणोंका योग दिखानेके लिये भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—अर्जुन ! जिसे श्रुतियाँ 'संन्यास' कहती हैं उसे ही तुम योग जानो, क्योंकि जो कर्मफलके संकल्पका त्याग नहीं करता ऐसा कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ॥ २ ॥]

(३) हे अर्जुन ! 'संन्यास ही उत्कृष्ट है' तथा 'ब्राह्मण लोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे निवृत्त होकर भिक्षाचर्या करते हैं' इत्यादि श्रुतियाँ जिस सम्पूर्ण कर्म और उनके फलके परित्यागको 'संन्यास' कहती हैं उस संन्यासको ही तुम फलकी तृष्णा और कर्तृत्वाभिमानके परित्यागपूर्वक विहित कर्मोंका अनुष्ठानरूप योग समझो । 'जो ब्रह्मदत्त

ब्रह्मदत्तमित्याह तं वयं मन्यामहे ब्रह्मदत्तसदृशोऽयमिति न्यायात्परशब्दः परत्र प्रयुज्यमानः सादृश्यं बोधयति गौण्या वृत्त्या तद्भावारोपेण वा। प्रकृते तु किं सादृश्यमिति तदाह—नहीति। हि यस्मादसंन्यस्तसंकल्पोऽत्यक्तफलसंकल्पः कश्चन कश्चिदपि योगी न भवति। अपि तु सर्वो योगी त्यक्तफलसंकल्प एव भवतीति फलत्यागसाम्यात्तृष्णारूपचित्तवृत्तिनिरोधसाम्याच्च गौण्या वृत्त्या कर्म्येव संन्यासी च योगी च भवतीत्यर्थः। तथा हि—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय इति वृत्तयः पञ्चविधाः। तत्र प्रत्यक्षानुमानशास्त्रोपमानार्थापत्त्यभावाख्यानि प्रमाणानि षडिति वैदिकाः। प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि त्रीणीति योगाः। अन्तर्भावबहिर्भावाभ्यां संकोचविकासौ द्रष्टव्यौ। अत एव तार्किकादीनां मतभेदाः। विपर्ययो मिथ्याज्ञानं तस्य पञ्च भेदा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः। त एव च क्लेशाः। शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः प्रमाभ्रमविलक्षणोऽसदर्थव्यवहारः शशविषाणमसत्पुरुषस्य चैतन्यमित्यादिः। अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा, चतसृणां वृत्तीनामभावस्य प्रत्ययः कारणं तमोगुणस्तदालम्बना वृत्तिरेव निद्रा न तु ज्ञानाद्यभावमात्रमित्यर्थः। अनुभूतविषयासंप्रमोषः प्रत्ययः स्मृतिः, पूर्वानुभवसंस्कारजं ज्ञानमित्यर्थः। सर्ववृत्तिजन्यत्वादन्ते कथनम्। लज्जादिवृत्तीनामपि पञ्चस्वेवान्तर्भावो द्रष्टव्यः। एताद्दशां सर्वासां चित्तवृत्तीनां

नहीं है उसे यदि ब्रह्मदत्त कहते हैं तो हम उसे 'यह ब्रह्मदत्तके समान है'—ऐसा मानते हैं इस न्यायसे यदि किसी अन्य शब्दका अन्य स्थानमें प्रयोग किया जाय तो वह गौणी वृत्तिसे अथवा तद्रूपताके आरोपद्वारा उसका उससे सादृश्य सूचित करता है। इस प्रसंगमें क्या सादृश्य है, सो 'न हि' इत्यादि उत्तरार्धसे कहते हैं। क्योंकि असंन्यस्तसङ्कल्प अर्थात् फलके संकल्पका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता, अपि तु सभी योगी फलके संकल्पका त्याग करनेवाले ही होते हैं, इसलिये तात्पर्य यह है कि फलके त्यागरूप सादृश्य और तृष्णारूप चित्तवृत्तिके निरोधमें सादृश्य होनेके कारण गौणीवृत्तिसे कर्मी ही संन्यासी और योगी होता है। जैसे कि 'योग चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम है' और वृत्तियाँ 'प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति' इस तरह पाँच प्रकारकी हैं। सो वैदिक (अद्वैतवादी) लोग तो प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव नामके छः प्रमाण मानते हैं तथा योगमतमें प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम—ये तीन प्रमाण हैं। इन प्रमाणोंकी न्यूनता और अधिकता कुछ प्रमाणोंका दूसरोंमें अन्तर्भाव हो जानेसे अथवा उनका उनसे पृथग्भाव हो जाने से समझनी चाहिये। इसीसे नैयायिकादिमें परस्पर मतभेद देखे जाते हैं। 'विपर्यय' मिथ्या ज्ञानको कहते हैं। उसके अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच भेद हैं। ये ही 'क्लेश' कहलाते हैं। जो शब्दज्ञानके पीछे होता है किन्तु वस्तुशून्य है उस प्रतीतिका नाम 'विकल्प' है। यह प्रमा और भ्रमसे विलक्षण तथा असत् पदार्थोंका व्यवहार है; जैसे खरहेके सींग असत् हैं, पुरुषका चैतन्य इत्यादि। अभावरूप प्रत्यय ही जिसका आलम्बन है उस वृत्तिका नाम 'निद्रा' है। अर्थात् चार प्रकारकी वृत्तियोंके अभावका प्रत्यय—कारण जो तमोगुण है उसे आलम्बन करनेवाली वृत्ति ही निद्रा है, ज्ञानादिके अभावमात्रका नाम निद्रा नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है। अनुभूत विषयका असम्प्रमोष (न भूलना) रूप जो ज्ञान है वह 'स्मृति' कहलाता है; अर्थात् पूर्वानुभवके संस्कारसे उत्पन्न हुआ ज्ञान 'स्मृति' है। पहली सब वृत्तियोंसे उत्पन्न होनेवाली होनेसे इसे अन्तमें कहा गया है। लज्जादि वृत्तियोंका भी इन्हीं पाँचोंमें अन्तर्भाव समझना चाहिये। ऐसी सभी वृत्तियोंका निरोध 'योग' और 'समाधि'

निरोधो योग इति च समाधिरिति च कथ्यते। फलसंकल्पस्तु रागाख्यस्तृतीयो विपर्ययभेदस्तन्निरोधमात्रमपि गौण्या वृत्त्या योग इति संन्यास इति चोच्यत इति न विरोधः॥ २॥

(१) तर्हि प्रशस्तत्वात्कर्मयोग एव यावज्जीवमनुष्ठेय इति नेत्याह—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

(२) योगमन्तःकरणशुद्धिरूपं वैराग्यमारुरुक्षोरारोढुमिच्छोर्न त्वारूढस्य मुनेर्मविष्यतः कर्मफलतृष्णात्यागिनः कर्म शास्त्रविहितमग्निहोत्रादि नित्यं भगवदर्पणबुद्ध्या कृतं कारणं योगारोहणे साधनमनुष्ठेयमुच्यते वेदमुखेन मया। योगारूढस्य योगमन्तःकरणशुद्धिरूपं वैराग्यं प्राप्तवतस्तु तस्यैव पूर्वं कर्मिणोऽपि सतः शमः सर्वकर्मसंन्यास एव कारणमनुष्ठेयतया ज्ञानपरिपाकसाधनमुच्यते॥ ३॥

(३) कदा योगारूढो भवतीत्युच्यते—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

(४) यदा यस्मिंश्चित्तसमाधानकाले इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु कर्मसु च नित्यनैमित्तिककाम्यलौकिकप्रतिषिद्धेषु नानुषज्जते तेषां मिथ्यात्वदर्शनेनाऽऽत्मनोऽकर्त्रभोक्तृपरमानन्दाद्वयस्वरूपदर्शनेन

कहा जाता है। फलका संकल्प 'राग' नामका तीसरा विपर्यय है। केवल उसका निरोध भी गौणीवृत्तिसे 'योग' और 'संन्यास' कहा जाता है; अतः इसमें कोई विरोध नहीं है॥ २॥

(१) 'तो क्या प्रशंसनीय होनेके कारण आजीवन कर्मयोगका ही अनुष्ठान करना चाहिये?' इसपर कहते हैं—नहीं,

[श्लोकार्थः—जो [भावी] मुनि अन्तःकरणकी शुद्धिरूप योग पर आरूढ होना चाहता है उसके लिये उसका साधन कर्म बताया गया है तथा योगारूढ हो जानेपर उसीके लिये समस्त कर्मोंका संन्यास ज्ञाननिष्ठाके परिपाकका साधन कहा गया है॥३॥]

(२) योग—अन्तःकरणकी शुद्धिरूप वैराग्यपर आरुरुक्षु—आरूढ होनेकी इच्छा वाले, उसपर आरूढ हुये नहीं, भावी योगी अर्थात् कर्मफलकी तृष्णाका त्याग करनेवालेके लिए कर्म—भगवदर्पण बुद्धिसे किया हुआ शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि नित्यकर्म कारण—योगारूढ होनेमें साधनरूपसे अनुष्ठेय है—ऐसा वेदरूप मुखसे मैंने कहा है। तथा जो योगारूढ है अर्थात् योग यानी अन्तःकरणकी शुद्धिरूप वैराग्यको प्राप्त कर चुका है, पहले कर्मी रहनेवाले ऐसे उसी योगीके लिये शम अर्थात् समस्त कर्मोंका संन्यास ही कारण—अनुष्ठेयरूपसे ज्ञाननिष्ठाके परिपाकका साधन कहा गया है॥ ३॥

(३) योगारूढ़ कब होता है? सो बताया जाता है—

[श्लोकार्थः—जिस समय मुनि इन्द्रियोंके विषयोंमें और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता उस समय वह समस्त संकल्पोंका त्याग करनेवाला योगारूढ़ कहा जाता है॥ ४॥]

(४) जब चित्तको समाहित करनेके समय शब्दादि इन्द्रियोंके विषयोंमें और नित्य, नैमित्तिक, काम्य, लौकिक एवं प्रतिषिद्ध कर्मोंमें, उनका मिथ्यात्व तथा अपना अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व एवं परमानन्दस्वरूपत्व देखनेके कारण कोई प्रयोजनबुद्धि न रहनेसे 'मैं इनका

च प्रयोजनाभावबुद्ध्याऽहमेतेषां कर्ता ममैते भोग्या इत्यभिनिवेशरूपमनुषङ्गं न करोति हि यस्मात्तस्मात्सर्वसंकल्पसंन्यासी सर्वेषां संकल्पानामिदं मया कर्तव्यमेतत्फलं भोक्तव्यमित्येवंरूपाणां मनोवृत्तिविशेषाणां तद्विषयाणां च कामानां तत्साधनानां च कर्मणां त्यागशीलः, तदा शब्दादिषु कर्मसु चानुषङ्गस्य तद्धेतोश्च संकल्पस्य योगारोहणप्रतिबन्धकस्याभावाद्योगं समाधिमारूढो योगारूढ इत्युच्यते ॥ ४ ॥

(१) यो यदैवं योगारूढो भवति तदा तेनाऽऽत्मनैवाऽऽत्मोद्धृतो भवति संसारानर्थव्रातादतः—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नाऽऽत्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

(२) आत्मना विवेकयुक्तेन मनसाऽऽत्मानं स्वं जीवं संसारसमुद्रे निमग्नं तत उद्धरेत्—उत्, ऊर्ध्वं हरेत्, विषयासङ्गपरित्यागेन योगारूढतामापादयेदित्यर्थः । न तु विषयासङ्गेनाऽऽत्मानमवसादयेत्संसारसमुद्रे मज्जयेत् । हि यस्मादात्मैवाऽऽत्मनो बन्धुर्हितकारी संसारबन्धनान्मोचनहेतुर्नान्यः कश्चिल्लौकिकस्य बन्धोरपि स्नेहानुबन्धेन बन्धहेतुत्वात् । आत्मैव नान्यः । कश्चित्, रिपुः शत्रुरहितकारिविषयबन्धनागारप्रवेशात्कोशकार इवाऽऽत्मनः स्वस्य । बाह्यस्यापि रिपोरात्मप्रयुक्तत्वाद्युक्तमवधारणमात्मैव रिपुरात्मन इति ॥ ५ ॥

कर्ता हूँ और ये मेरे भोग्य हैं' ऐसा अभिनिवेशरूप अनुषंग नहीं करता; इसलिए जब सर्वसंकल्पसंन्यासी—'मुझे यह करना है और यह फल भोगना है' ऐसी मनोवृत्तिविशेष, उसके विषयभूत भोग और उन भोगोंके साधनभूत कर्मोंको त्यागनेके स्वभाववाला हो जाता है उस समय शब्दादि विषयोंमें और कर्मोंमें आसक्ति और उससे होनेवाले संकल्पका, जो योगारोहणके प्रतिबन्धक हैं, अभाव हो जानेके कारण वह मुनि योग अर्थात् समाधिपर आरूढ यानी योगारूढ कहा जाता है ॥ ४ ॥

(१) जिस समय जो मुनि इस प्रकार योगारूढ होता है उस समय वह उसी रूपसे संसाररूप अनर्थसमुदायसे अपना उद्धार कर लेता है; इसलिये—

[श्लोकार्थः—विवेकयुक्त मनके द्वारा संसारसमुद्रमें डूबे हुए अपने आत्माका उद्धार करे। उसमें अपनेको डुबावे नहीं, क्योंकि आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु है ॥ ५ ॥]

(२) आत्मना—विवेकयुक्त मनके द्वारा आत्मानम्—संसारसमुद्रमें डूबे हुए जीवरूप अपने को उससे उद्धृत करे—ऊपरकी ओर ले जाय । तात्पर्य यह कि विषयासक्ति को त्यागकर योगारूढता सम्पादन करे, विषयासक्तिके द्वारा अपनेको संसारसमुद्रमें डुबावे नहीं, क्योंकि आत्मा ही आत्माका बन्धु—हितकारी अर्थात् संसारबन्धनसे छुड़ानेका हेतु है, कोई दूसरा नहीं, क्योंकि लौकिक बन्धु भी स्नेहानुबन्धके कारण बन्धनके ही हेतु होते हैं । तथा आत्मा ही रेशमके कीड़ेके समान विषयरूप बन्धनागारमें प्रवेश करनेके कारण अपना रिपु—शत्रु अर्थात् अहितकारी है, कोई दूसरा नहीं । बाह्य शत्रु भी अपनी ही प्रेरणासे होता है, इसलिये 'आत्मा ही अपना शत्रु है' इस प्रकार निश्चय करना उचित ही है ॥ ५ ॥

(१) इदानीं किंलक्षण आत्माऽऽत्मनो बन्धुः किंलक्षणो वाऽऽत्मनो रिपुरित्युच्यते—

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनाऽऽत्मैवाऽऽत्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

(२) आत्मा कार्यकरणसंघातो येन जितः स्ववशीकृत आत्मनैव विवेकयुक्तेन मनसैव न तु शस्त्रादिना, तस्याऽऽत्मा स्वरूपमात्मनो बन्धुरुच्छृङ्खलस्वप्रवृत्त्यभावेन स्वहितकरणात् । अनात्मनस्तु अजितात्मन इत्येतत् । शत्रुत्वे शत्रुभावे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत्, बाह्यशत्रुरिवोच्छृङ्खलप्रवृत्त्या स्वस्य स्वेनानिष्टाचरणात् ॥ ६ ॥

(३) जितात्मनः स्वबन्धुत्वं विवृणोति—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

(४) शीतोष्णसुखदुःखेषु चित्तविक्षेपकरेषु सत्स्वपि तथा मानापमानयोः पूजापरिभवयोश्चित्तविक्षेपहेत्वोः सतोरपि तेषु समत्वेनेति वा । जितात्मनः प्रागुक्तस्य जितेन्द्रियस्य प्रशान्तस्य सर्वत्र समबुद्धेर्गद्वेषशून्यस्य परमात्मा स्वप्रकाशज्ञानस्वभाव आत्मा समाहितः समाधिविषयो योगारूढो भवति । परमिति वा छेदः । जितात्मनः प्रशान्तस्यैव परं केवलमात्मा समाहितो भवति नान्यस्य । तस्माज्जितात्मा प्रशान्तश्च भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

---

(१) अब यह बताया जाता है कि किन लक्षणोंवाला आत्मा आत्माका बन्धु है और किन लक्षणोंवाला आत्मा आत्माका शत्रु है—

[श्लोकार्थः—जिसने विवेकयुक्त मनसे अपने कार्य-करणसंघातको जीत लिया है उसका आत्मा अपना बन्धु है और जिसने उसे नहीं जीता उसकी शत्रुतामें आत्मा ही शत्रुके समान वर्तता है ॥ ६ ॥]

(२) जिसने आत्मा अर्थात् कार्य-करणके संघातको आत्मा—विवेकयुक्त मनके द्वारा ही जीत लिया है—अपने वशमें कर लिया है, किसी शस्त्रादिसे नहीं, उसका आत्मा अर्थात् स्वरूप उच्छृङ्खल प्रवृत्तिके अभावसे अपना हित करनेके कारण अपना बन्धु है । किन्तु जो अनात्मा अर्थात् अजितात्मा है उसके शत्रुत्व-शत्रुभावमें आत्मा ही बाह्य शत्रुके समान उच्छृङ्खल प्रवृत्तिसे स्वयं ही अपना अनिष्ट करनेके कारण शत्रुके समान वर्तता है ॥

(३) जितात्मा अपना बन्धु है—इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—शीत, उष्ण, सुख और दुःखमें तथा मान और अपमानके समय जितात्मा और प्रशान्त रहनेवाले आत्माका ही परमात्मा समाधि का विषय होता है ॥ ७ ॥]

(४) चित्तमें विक्षेप करनेवाले शीत, उष्ण, सुख और दुःखोंके रहते हुए भी तथा चित्तविक्षेपके हेतुभूत मान-अपमान अर्थात् पूजा और तिरस्कारके होनेपर भी उनमें समभाव रहनेके कारण जो जितात्मा—पूर्वोक्त जितेन्द्रिय और प्रशान्त—सर्वत्र समबुद्धि होनेके कारण राग-द्वेष-रहित है उसे परमात्मा—स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप आत्मा समाहित—समाधिका विषय अर्थात् योगारूढ हो जाता है । अथवा 'परम्' इस पदको अलग समझना चाहिये । [तब ऐसा अर्थ होगा] जितात्मा और प्रशान्त पुरुषको ही 'परम्'—केवल आत्मा समाहित होता है, और किसी को नहीं । अतः तात्पर्य यह है कि जितात्मा और प्रशान्त होना चाहिये ॥ ७ ॥

(१) किं च—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

(२) ज्ञानं शास्त्रोक्तानां पदार्थानामौपदेशिकं ज्ञानं विज्ञानं तदप्रामाण्यशङ्कानिराकरणफलेन विचारेण तथैव तेषां स्वानुभवेनापरोक्षीकरणं ताभ्यां तृप्तः संजातालंप्रत्यय आत्मा चित्तं यस्य स तथा । कूटस्थो विषयसंनिधावपि विकारशून्यः । अत एव विजितानि रागद्वेषपूर्वकाद्विषयग्रहणाद्व्यावर्तिता-नीन्द्रियाणि येन सः । अत एव हेयोपादेयबुद्धिशून्यत्वेन समानि मृत्पिण्डपाषाणकाञ्चनानि यस्य सः । योगी परमहंसपरिव्राजकः परवैराग्ययुक्तो योगारूढ इत्युच्यते ॥ ८ ॥

(३) सुहृन्मित्रादिषु समबुद्धिस्तु सर्वयोगिश्रेष्ठ इत्याह—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

(४) सुहृत्प्रत्युपकारमनपेक्ष्य पूर्वस्नेहं संबन्धं च विनैवोपकर्ता । मित्रं स्नेहेनोपकारकः । अरिः स्वकृतापकारमनपेक्ष्य स्वभावक्रौर्येणापकर्ता । उदासीनो विवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षकः । मध्यस्थो विवदमानयोरुभयोरपि हितैषी । द्वेष्यः स्वकृतापकारमपेक्ष्यापकर्ता । बन्धुः संबन्धेनोपकर्ता ।

(१) तथा—

[श्लोकार्थः—जिसका चित्त ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जो कूटस्थ और विजितेन्द्रिय है तथा जिसके लिये ढेला, पत्थर और सुवर्ण समान हैं वह योगी युक्त कहा जाता है ॥ ८ ॥]

(२) ज्ञान—शास्त्रोक्त पदार्थोंका उपदेशजनित ज्ञान और विज्ञान—उसके अप्रामाण्यकी शंकाके निराकरणरूप फलवाले विचारसे अपने अनुभवके द्वारा उन पदार्थोंका उसी प्रकार साक्षात्कार करना—इन दोनोंसे जिसका आत्मा—चित्त तृप्त है अर्थात् जिसकी उनमें पूर्णबुद्धि उत्पन्न हो गयी है तथा जो कूटस्थ-विषयकी सन्निधिमें भी विकारशून्य है, अतः जिसने अपनी इन्द्रियोंको विजित—राग-द्वेषपूर्वक विषयग्रहणसे निवृत्त कर लिया है, इसीसे हेयोपादेयबुद्धिसे रहित हो जानेके कारण जिसके लिये मिट्टीका ढेला, पत्थर और सुवर्ण समान हो गये हैं वह योगी—परवैराग्ययुक्त परमहंस परिव्राजक युक्त अर्थात् योगारूढ कहा जाता है ॥ ८ ॥

(३) अब यह बताते हैं कि सुहृद् और मित्रादिमें समान बुद्धि रखनेवाला तो सभी योगियोंसे श्रेष्ठ है—

[श्लोकार्थः—सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु और पापियों में भी समानबुद्धि रखनेवाला योगी और सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥]

(४) सुहृद्—पूर्वस्नेह और सम्बन्धके बिना ही प्रत्युपकारकी अपेक्षा न रखते हुए उपकार करनेवाला, मित्र—स्नेहवश उपकार करनेवाला, अरि—अपने किये हुए अपकारपर दृष्टि न देकर स्वाभाविक क्रूरतासे अपकार करनेवाला, उदासीन—आपसमें विवाद करनेवाले दोनों ही की उपेक्षा करनेवाला, मध्यस्थ—आपसमें विवाद करनेवाले दोनोंहीका हित चाहनेवाला, द्वेष्य—अपने प्रति किये हुए अपकारके कारण अपकार करनेवाला, बन्धु—सम्बन्धवश उपकार करनेवाला—इन शास्त्रविहित कर्मोंको करनेवाले

एतेषु साधुषु शास्त्रविहितकारिषु पापेषु शास्त्रप्रतिषिद्धकारिष्वपि । चकारादन्येषु च सर्वेषु समबुद्धिः कः कीदृक्कर्मेत्यव्याकृतबुद्धिः सर्वत्र रागद्वेषशून्यो विशिष्यते सर्वत उत्कृष्टो भवति । विमुच्यत इति वा पाठः ॥ ९ ॥

(१) एवं योगारूढस्य लक्षणं फलं चोक्त्वा तस्य साङ्गं योगं विधत्ते योगीत्यादिभिः स योगी परमो मत इत्यन्तैस्त्रयोविंशत्या श्लोकैः । तत्रैवमुत्तमफलप्राप्तये—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

(२) योगी योगारूढ आत्मानं चित्तं सततं निरन्तरं युञ्जीत क्षिप्तमूढविक्षिप्तभूमिपरित्यागेनै-काग्रनिरोधभूमिभ्यां समाहितं कुर्यात् । रहसि गिरिगुहादौ योगप्रतिबन्धकदुर्जनादिवर्जिते देशे स्थित एकाकी त्यक्तसर्वगृहपरिजनः संन्यासी, चित्तमन्तःकरणमात्मा देहश्च संयतौ योगप्रतिबन्धकव्यापार-शून्यौ यस्य स यतचित्तात्मा । यतो निराशीर्वैराग्यदार्ढ्येन विगततृष्णः । अत एव चापरिग्रहः शास्त्रा-भ्यनुज्ञातेनापि योगप्रतिबन्धकेन परिग्रहेण शून्यः ॥ १० ॥

(३) तत्राऽऽसननियमं दर्शयन्नाह द्वाभ्याम्—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

साधुओंमें, शास्त्रविरुद्ध कर्म करनेवाले असाधुओंमें और चकारसे अन्य सबमें भी जो समबुद्धि है अर्थात् 'कौन किस प्रकारका कर्म करनेवाला है' इस प्रकार जिसकी बुद्धिका व्यापार नहीं होता, इस प्रकार जो सर्वत्र राग-द्वेषशून्य है वह विशेष अर्थात् सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट है । अथवा 'विशिष्यते' इसके स्थानमें 'विमुच्यते' ऐसा भी पाठ हो सकता है ॥ ९ ॥

(१) इस प्रकार योगारूढका लक्षण और उसे प्राप्त होनेवाले फलका निरूपण कर अब 'योगी' इत्यादिसे लेकर 'स योगी परमो मतः' यहाँ तकके तेईस श्लोकोंसे उसके लिये अंगोंसहित योगका विधान करते हैं । सो इस प्रकारका उत्तम फल प्राप्त करनेके लिये—

[श्लोकार्थः—योगीको एकान्तदेशमें अकेले रहकर आशा और परिग्रहके परित्याग-पूर्वक अपने चित्त और शरीरको संयत करके निरन्तर अपने अन्तःकरणको समाधिमें स्थित रखना चाहिये ॥ १० ॥]

(२) रहसि—योगके प्रतिबन्धक दुर्जनादिसे रहित गिरिकन्दरादि एकान्त देशमें रहनेवाले, एकाकी—गृह-परिजन आदि सबका त्याग करनेवाले संन्यासी तथा जिसके चित्त—अन्तःकरण और आत्मा—शरीर ये दोनों संयत—योगके प्रतिबन्धक व्यापारोंसे रहित हैं, क्योंकि वह निराशी—वैराग्यकी दृढताके कारण तृष्णाशून्य अतः परिग्रहहीन अर्थात् शास्त्रानुमोदित होनेपर भी योगके प्रतिबन्धक परिग्रहसे शून्य होता है ऐसे योगी—योगारूढ पुरुषको सतत—निरन्तर अपने आत्मा—चित्तको युक्त रखना चाहिये । अर्थात् क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमियोंके त्यागपूर्वक उसे एकाग्र और निरोधभूमिमें समाहित करना चाहिये ॥ १० ॥

(३) अब आसनका नियम दिखानेके लिये दो श्लोकोंसे कहते हैं—

[श्लोकार्थः—पवित्र देशमें जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा ऐसा कुशाके ऊपर मृगचर्म और वस्त्रयुक्त अपना स्थिर आसन स्थापित करके ॥ ११ ॥]

(१) शुचौ स्वभावतः संस्कारतो वा शुद्धे जनसमुदायरहिते निर्भये गङ्गातटगुहादौ देशे समे स्थाने प्रतिष्ठाप्य स्थिरं निश्चलं नात्युच्छ्रितं नात्युच्चं नाप्यतिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं चैलं मृदुवस्त्रम्, अजिनं मृदु व्याघ्रादिचर्म ते कुशेभ्य उत्तरे उपरितने यस्मिंस्तत्, आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनं, कुशमयवृष्युपरि मृदुचर्म तदुपरि मृदुवस्त्ररूपमित्यर्थः । तथा चाऽऽह भगवान्पतञ्जलिः—'स्थिरसुखमासनम्' इति । आत्मन इति परासनव्यावृत्त्यर्थं तस्यापि परेच्छानियमाभावेन योगविक्षेपकरत्वात् ॥ ११ ॥

(२) एवमासनं प्रतिष्ठाप्य किं कुर्यादिति तत्राऽऽह—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्याऽऽसने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

(३) तत्र तस्मिन्नासन उपविश्यैव न तु शयानस्तिष्ठन्वा । 'आसीनः संभवात्' इति न्यायात् । यतः संयता उपरताश्चित्तस्येन्द्रियाणां च क्रिया वृत्तयो येन स यतचित्तेन्द्रियक्रियः सन्योगं समाधिं युञ्जीताभ्यसेत् । किमर्थम्, आत्मविशुद्धय आत्मनोऽन्तःकरणस्य सर्वविक्षेपशून्यत्वेनातिसूक्ष्मतया ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतायै । 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (कठ० १।३।१२) इति श्रुतेः ।

---

(१) शुचि—स्वभावसे अथवा संस्कारद्वारा शुद्ध किये हुए, जनसमूहसे रहित गंगातट अथवा गुहा आदि निर्भय देशमें समान भूमिपर अपना स्थित—निश्चल आसन स्थापित करके, जो न तो अधिक उच्छ्रित यानी ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो तथा चैलाजिनकुशोत्तर हो—चैल अर्थात् कोमलवस्त्र और अजिन—व्याघ्रादिकी कोमल त्वचा थे जिसमें कुशाओंके ऊपर हों 'आस्यते अस्मिन् इति आसनम्' (जिसमें बैठा जाय उसे 'आसन' कहते हैं) इस व्युत्पत्तिके अनुसार आसन बिछाकर । अर्थात् पहले कुशकी साथरी, उसके ऊपर कोमल चर्म और उसके ऊपर कोमल वस्त्र—ऐसा आसन बिछाकर । भगवान् पतञ्जलिने भी कहा है—'जो स्थिर और सुखकारक हो वह आसन है ।' 'आत्मनः' (अपना) यह विशेषण दूसरेके आसनकी व्यावृत्तिके लिये है, क्योंकि दूसरेकी इच्छाका कोई निश्चित नियम न होने के कारण वह भी योगमें विक्षेप करनेवाला होता है ॥ ११ ॥

(२) 'इस प्रकार आसन स्थापित करके क्या करे ?' इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्धः—उस आसनके ऊपर बैठकर मनको एकाग्र करके तथा चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको संयत कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये समाधिका अभ्यास करे ॥१२॥]

(३) 'उपासना बैठकर करनी चाहिये, क्योंकि इस प्रकार ही उसका होना सम्भव है' इस सूत्रोक्त न्यायसे उस आसनपर बैठकर ही, लेटकर या खड़े होकर नहीं, जिसने चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओं अर्थात् वृत्तियोंको यत—संयत यानी उपरत कर लिया है ऐसा चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंके संयमवाला होकर योग—समाधिका युञ्जन—अभ्यास करे । किसलिए करे ? आत्मविशुद्धिके लिये । अर्थात् 'यह आत्मा सूक्ष्मदर्शियों द्वारा सब प्रकारके विक्षेपोंसे रहित सूक्ष्म बुद्धिद्वारा देखा जाता है' इस श्रुति के अनुसार आत्मा—अन्तःकरणको सम्पूर्ण विक्षेपोंसे रहित हो जानेके कारण अत्यन्त सूक्ष्म हो जानेसे ब्रह्मसाक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त करानेके लिये करे ।

(१) किं कृत्वा योगमभ्यसेदिति तत्राऽऽह—एकाग्रं राजसतामसव्युत्थानाख्यप्रागुक्तभूमित्रयपरित्यागेनैकविषयकधारावाहिकानेकवृत्तियुक्तसुद्रिक्तसत्त्वं मनः कृत्वा दृढभूमिकेन प्रयत्नेन संपाद्यैकाग्र्यताविवृद्धयर्थं योगं संप्रज्ञातसमाधिमभ्यसेत् । स च ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाह एव निदिध्यासनाख्यः । तदुक्तम्—

'ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना । संप्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः ॥' इति ।

एतदेवाभिप्रेत्य ध्यानाभ्यासप्रकर्षं विदधे भगवान्—योगी युञ्जीत सततं, युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये, युक्त आसीत मत्पर इत्यादि बहुकृत्वः ॥ १२ ॥

(२) तदर्थं बाह्यमासनमुक्त्वाऽधुना तत्र कथं शरीरधारणमित्युच्यते—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

(३) कायः शरीरमध्यं स च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं मूलाधारादारभ्य मूर्धान्तपर्यन्तं सममवक्रमचलमकम्पं धारयन्नेकतत्त्वाभ्यासेन विक्षेपसहभाव्यङ्गमेजयत्त्वाभावं संपादयन्स्थिरो दृढप्रयत्नो भूत्वा । किं च स्वं स्वीयं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्यैव लयविक्षेपराहित्याय विषयप्रवृत्तिरहितोऽनिमीलितनेत्र इत्यर्थः । दिशश्चानवलोकयन्, अन्तराऽन्तरा दिशां चावलोकनमकुर्वन्योगप्रतिबन्धकत्वात्तस्य । एवंभूतः सन्नासीतेत्युत्तरेण संबन्धः ॥ १३ ॥

---

(१) क्या करके योगका अभ्यास करे—इसपर कहते हैं—मनको एकाग्र करके अर्थात् दृढभूमिकायुक्त प्रयत्नसे उसकी पहले बतायी हुई राजस और तामस व्युत्थान-संज्ञक तीन भूमियों का त्याग करके उसे, जिनका एक ही विषय है ऐसी धारावाहिक अनेक वृत्तियोंसे युक्त एवं बढ़े हुए सत्त्वसे सम्पन्न करके एकाग्रताकी वृद्धिके लिये योग—सम्प्रज्ञात समाधिका अभ्यास करे । उस ब्रह्माकार मनोवृत्तिके प्रवाहका नाम ही निदिध्यासन है । कहा भी है—'अहंकारके विना जो ब्रह्माकार मनोवृत्तिका प्रवाह है वही ध्यानका अभ्यास बढ़नेपर सम्प्रज्ञात समाधि हो जाता है ।' इसी अभिप्रायसे भगवान्ने 'योगी युञ्जीत सततम्' 'युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये' 'युक्त आसीत मत्परः' इत्यादि वाक्योंसे कई बार ध्यानाभ्यासको बढ़ानेका विधान किया है ॥ १२ ॥

(२) उस ध्यानाभ्यासके लिये बाह्य साधन आसनका वर्णन कर अब यह बतलाते हैं कि उसे अपने शरीरको किस प्रकार रखना चाहिये—

[श्लोकार्धः—उसे स्थिर होकर शरीरके मध्यभाग, सिर और ग्रीवाको सीधा और निश्चल रखकर अपने नासिकाग्रको देखते हुए तथा दिशाओंको न देखते हुए स्थित होना चाहिये ॥ १३ ॥]

(३) उसे स्थिर—दृढ प्रयत्नवाला होकर काय—शरीरके मध्यभाग, सिर और ग्रीवा इस कायशिरोग्रीव अर्थात् मूलाधारसे लेकर मस्तकपर्यन्त भागको सम—सीधा और अचल—अकम्प धारण करके अर्थात् एकतत्त्वके अभ्याससे विक्षेपके साथ होनेवाले शरीरके कम्पनका अभाव करके तथा अपने नासिकाग्रको देखते हुए ही अर्थात् लय और विक्षेपकी निवृत्तिके लिये विषयप्रवृत्तिसे रहित होकर नेत्रोंको आधा खुला हुआ रखते हुए तथा दिशाओंको न देखते हुए—बीच-बीचमें इधर-उधर अवलोकन न करते हुए, क्योंकि यह भी योगका प्रतिबन्धक है, अतः ऐसा होकर 'आसीत' (बैठे) इस प्रकार इसका अगले श्लोकसे सम्बन्ध है ॥ १३ ॥

(१) किं च—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

(२) निदाननिवृत्तिरूपेण प्रकर्षेण शान्तो रागादिदोषरहित आत्माऽन्तःकरणं यस्य स प्रशान्तात्मा शास्त्रीयनिश्चयदार्ढ्याद्विगता भीः सर्वकर्मपरित्यागेन युक्तत्वायुक्तत्वशङ्का यस्य स विगतभीः, ब्रह्मचारिव्रते ब्रह्मचर्यगुरुशुश्रूषाभिक्षाभोजनादौ स्थितः सन्, मनः संयम्य विषयाकार-वृत्तिशून्यं कृत्वा, मयि परमेश्वरे प्रत्यक्चिति सगुणे निर्गुणे वा चित्तं यस्य स मच्चित्तो मद्विषयकधारा-वाहिकचित्तवृत्तिमान् । पुत्रादौ प्रिये चिन्तनीये सति कथमेवं स्यादत आह—मत्परः, अहमेव परमानन्द-रूपत्वात्परः पुरुषार्थः प्रियो यस्य स तथा । 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' इति श्रुतेः । एवं विषयाकारसर्ववृत्तिनिरोधेन भगवदेकाकारचित्तवृत्तियुक्तः संप्रज्ञातसमा-धिमानासीतोपविशेत्यथाशक्ति, न तु स्वेच्छया व्युत्तिष्ठेदित्यर्थः ।

(३) भवति कश्चिद्रागी स्त्रीचित्तो न तु स्त्रियमेव परत्वेनाऽऽराध्यत्वेन गृह्णाति किं तर्हि राजानं वा देवं वा । अयं तु मच्चित्तो मत्परश्च सर्वाराध्यत्वेन मामेव मन्यत इति भाष्यकृतां व्याख्या ।

---

(१) तथा—

[श्लोकार्थः—योगीको प्रशान्तचित्त, निर्भय, ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, मनको संयत करके, मेरे हीमें चित्त लगाकर और मुझको ही अपना परम पुरुषार्थ समझते हुए योगयुक्त होकर बैठना चाहिये ॥ १४ ॥]

(२) आत्यन्तिकी निवृत्तिरूप प्रकर्षसे शान्त—रागादि दोषसे रहित है आत्मा—अन्तःकरण जिसका ऐसा प्रशान्तात्मा एवं शास्त्रीय निश्चयकी दृढतासे जो विगतभी है अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके परित्यागमें जिसे औचित्य-अनौचित्य की शंका नहीं है ऐसा विगतभी (निर्भय) होकर, ब्रह्मचर्य गुरुसेवा एवं भिक्षान्न-भोजन आदि ब्रह्मचारीके व्रतोंमें स्थित होकर, मनका संयम करके अर्थात् उसे विषयाकार वृत्तिसे शून्य करके, तथा मुझ प्रत्यक्चेतन सगुण या निर्गुण परमेश्वरमें है चित्त जिसका ऐसा मच्चित्त अर्थात् मेरे प्रति धारावाहिक चित्तवृत्तिवाला होकर । किन्तु पुत्रादि चिन्तनके प्रिय विषयोंके रहते हुए ऐसा कैसे हो सकता है ? इसलिये कहते हैं—'मत्परः'—परमानन्दस्वरूप होनेके कारण मैं ही हूँ परम पुरुषार्थ अर्थात् प्रिय जिसका ऐसा मच्चित्त होकर, जैसा कि 'वह यह आत्मा पुत्रसे प्रिय है, धनसे प्रिय है तथा अन्य सबकी अपेक्षा भी प्रिय है, यह जो आत्मा है अत्यन्त अन्तरतर है' इस श्रुतिसे भी सिद्ध होता है । इस प्रकार समस्त विषयाकार वृत्तियोंके निरोधपूर्वक एकमात्र भगवदाकार चित्तवृत्तियुक्त होकर एवं युक्त—सम्प्रज्ञात समाधिमान् होकर यथाशक्ति बैठा रहे । तात्पर्य यह है कि अपनी इच्छासे उत्थान न करे ।

(३) यहाँ भगवान् भाष्यकारकी ऐसी व्याख्या है—'कोई रागी पुरुष स्त्रीमें चित्तवाला तो हो सकता है किन्तु वह स्त्रीको ही परमपुरुषार्थ या उपास्यरूपसे ग्रहण नहीं कर सकता; तो इस प्रकार किन्हें ग्रहण करता है ?—राजाको अथवा देवताको । किन्तु यह मुझमें चित्त रखनेवाला तो मत्पर होता है—मुझे ही सबका आराध्य मानता है ।'

(१) व्याख्यातृत्वेऽपि मे नात्र भाष्यकारेण तुल्यता ।
गुञ्जायाः किं नु हेम्नैकतुलारोहेऽपि तुल्यता ॥ १४ ॥

(२) एवं संप्रज्ञातसमाधिनाऽऽसीनस्य किं स्यादित्युच्यते—

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

(३) एवं रहोवस्थानादिपूर्वोक्तनियमेनाऽऽत्मानं मनो युञ्जन्नभ्यासवैराग्याभ्यां समाहितं कुर्वन्योगी सदा योगाभ्यासपरोऽभ्यासातिशयेन नियतं निरुद्धं मानसं मनो येन नियता निरुद्धा मानसा मनोवृत्तिरूपा विकारा येनेति वा नियतमानसः सन्, शान्तिं सर्ववृत्त्युपरतिरूपां प्रशान्तवा-हितां निर्वाणपरमां तत्त्वसाक्षात्कारोत्पत्तिद्वारेण सकार्याविद्यानिवृत्तिरूपमुक्तिपर्यवसायिनीं मत्संस्थां मत्स्वरूपपरमानन्दरूपां निष्ठामधिगच्छति, न तु सांसारिकाण्यैश्वर्याणि अनात्मविषयसमाधिफलान्य-धिगच्छति, तेषामपवर्गोपयोगिसमाध्युपसर्गत्वात् ।

(४) तथा च तत्तत्समाधिफलान्युक्त्वाऽऽह भगवान्पतञ्जलिः—'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः' (पा० द० ३।३७) इति । 'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्' (पा० द० ३।५१) इति च । स्थानिनो देवाः । तथाचोद्दालको देवैरामन्त्रितोऽपि तत्र सङ्गमादरं

---

(१) मैं गीताका व्याख्याता तो हूँ किन्तु इस विषयमें भगवान् भाष्यकारसे मेरी तुल्यता नहीं हो सकती । सुवर्णके साथ तराजूपर चढ़नेपर भी क्या गुञ्जाकी उसके साथ तुल्यता हो सकती है ? ॥ १४ ॥

(२) इस प्रकार सम्प्रज्ञातसमाधियुक्त होकर बैठे हुए योगीको क्या होता है ? सो बताया जाता है—

[श्लोकार्थः—संयतचित्त योगी अपने मनको सर्वदा इस प्रकार योगयुक्त रखनेसे मेरे स्वरूपमें स्थित तथा अविद्याकी निवृत्तिमें पर्यवसित होनेवाली शान्ति प्राप्त करता है ॥ १५ ॥]

(३) इस प्रकार एकान्तदेशमें बैठने आदि पूर्वोक्त नियमोंके अनुसार मनको आत्मामें नियुक्त अर्थात् अभ्यास और वैराग्यके द्वारा समाहित करनेवाला योगी, सर्वदा योगाभ्यासमें तत्पर अर्थात् जिसने अभ्यासकी अधिकतासे अपने मनको नियत—निरुद्ध कर लिया है अथवा जिसने अपने मानस—मनोवृत्तिके विकारोंको नियत—निरुद्ध कर लिया है ऐसा नियतमानस होकर शान्ति अर्थात् सम्पूर्ण वृत्तियोंकी उपरतिरूप प्रशान्तवाहिताको प्राप्त करता है, जो निर्वाणपरमा—तत्त्वसाक्षात्कारकी उत्पत्तिके द्वारा कार्यसहित अविद्याकी निवृत्तिरूप मुक्तिमें पर्यवसित होनेवाली है और मत्संस्था—मेरी स्वरूपभूता परमानन्दरूप निष्ठा है । वह अनात्मवस्तुविषयक समाधिके फलस्वरूप सांसारिक ऐश्वर्योंको प्राप्त नहीं करता, क्योंकि वे मोक्षमें उपयोगी समाधिके तो विघ्न ही हैं ।

(४) भगवान् पतञ्जलिने भी तत्तद्विषयक समाधिके फल बतलाकर ऐसा कहा है—'जो व्युत्थानमें सिद्धियाँ हैं वे समाधिमें विघ्न हैं' तथा 'योगीको जब स्थानी (देवता) आमन्त्रित करें तो उसे उनमें आसक्ति और गर्व नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे उसके अनिष्टका प्रसंग हो सकता है ।' स्थानी देवताओंको कहते हैं । वसिष्ठजीने ऐसा ही एक उपाख्यान कहा है कि उद्दालकने देवताओंके आमन्त्रित करनेपर भी पुनः अनिष्ट-

स्मयं गर्वं चाकृत्वा देवानवज्ञाय पुनरनिष्टप्रसङ्गनिवारणाय निर्विकल्पकमेव समाधिमकरोदिति वसिष्ठेनोपाख्यायते ।

(१) मुमुक्षुभिर्हेयश्च समाधिः सूत्रितः पतञ्जलिना—'वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञातः ।' (पा० द० १।१७) सम्यक्संशयविपर्ययानध्यवसायरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण विशेषरूपेण ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन स संप्रज्ञातः समाधिर्भावनाविशेषः । भावना हि भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम् । भाव्यं च त्रिविधं ग्राह्यग्रहणग्रहीतृभेदात् । ग्राह्यमपि द्विविधं स्थूलसूक्ष्मभेदात् । तदुक्तं 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः ।' (पा० द० १।४१) क्षीणा राजसतामसवृत्तयो यस्य तस्य चित्तस्य ग्रहीतृग्रहणग्राह्येष्वात्मेन्द्रियविषयेषु तत्स्थता तत्रैवैकाग्रता, तदञ्जनता तन्मयता न्यग्भूते चित्ते भाव्यमानस्यैवोत्कर्ष इति यावत् । तथाविधा समापत्तिस्तद्रूपः परिणामो भवति । यथाऽभिजातस्य निर्मलस्य स्फटिकमणेस्तत्तदुपाश्रयवशात्तत्तद्रूपापत्तिरेवं निर्मलस्य चित्तस्य तत्तद्भावनीयवस्तूपरागात्तत्तद्रूपापत्तिः समापत्तिः समाधिरिति च पर्यायः । यद्यपि ग्रहीतृग्रहणग्राह्येष्वित्युक्तं तथाऽपि भूमिकाक्रमवशाद्ग्राह्यग्रहणग्रहीतृष्विति बोद्धव्यम् । यतः प्रथमं ग्राह्यनिष्ठ एव समाधिर्भवति ततो ग्रहणनिष्ठस्ततो ग्रहीतृनिष्ठ इति । ग्रहीत्रादिक्रमोऽप्यग्रे व्याख्यास्यते ।

(२) तत्र यदा स्थूलं महाभूतेन्द्रियात्मकषोडशविकाररूपं विषयमादाय पूर्वापरानुसंधानेन

प्राप्तिके प्रसंगकी निवृत्तिके लिये उसमें संग—आदर और स्मय—गर्व न करके देवताओंकी उपेक्षा करते हुए निर्विकल्प समाधि ही की थी ।

(१) महर्षि पतञ्जलिने मुमुक्षुके लिये त्यागने योग्य समाधिको इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है—'वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिताकी अनुगति रहनेपर सम्प्रज्ञात समाधि होती है ।' जिसके द्वारा भाव्यके स्वरूपका सम्यक्—संशय, विपर्यय और अनिश्चयसे रहित प्रज्ञान—प्रकर्ष अर्थात् विशेषरूपसे ज्ञान होता है वह सम्प्रज्ञात समाधि एक भावनाविशेष है । भाव्यवस्तुको विषयान्तरके परित्यागपूर्वक पुनः पुनः चित्तमें स्थापित करना 'भावना' कहलाता है । भाव्य ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता भेदसे तीन प्रकारका होता है । स्थूल-सूक्ष्मभेदसे ग्राह्य भी दो प्रकारका है । इस विषयमें ऐसा कहा है—'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः'—जिसकी राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गयी हैं उस चित्तकी ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्यरूप आत्मा इन्द्रिय और विषयोंमें तत्स्थ—उन्हींमें एकाग्रतारूप और तदञ्जनता—तन्मयतारूप अर्थात् क्षीण हुए चित्तमें भाव्यमान वस्तुका ही जो उत्कर्ष है तद्रूप समापत्ति होती है अर्थात् उसका वैसा ही परिणाम होता है; जिस प्रकार कि अभिजात—निर्मल स्फटिक मणिको उस-उस आश्रयके कारण उस-उस रूपकी प्राप्ति हो जाती है वैसे ही निर्मल चित्तको उस-उस भावनीय वस्तुके सम्बन्धसे उस-उस रूपकी प्राप्ति हो जाती है । समापत्ति और समाधि ये पर्यायशब्द हैं । यद्यपि सूत्रमें 'ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु' ऐसा कहा है तथापि भूमिकाक्रमसे 'ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु' ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि पहले ग्राह्यनिष्ठ ही समाधि होती है, उसके पश्चात् ग्रहणनिष्ठ और फिर ग्रहीतृनिष्ठ होती है । ग्रहीता आदिके क्रमकी भी आगे व्याख्या की जायगी ।

(२) जिस समय महाभूत और इन्द्रिय इस सोलह विकाररूप स्थूल विषयको लेकर आगे-पीछेके अनुसन्धानपूर्वक शब्द और अर्थकी स्मृतिके सहित भावना की जाती

शब्दार्थोल्लेखेन च भावना क्रियते तदा सवितर्कः समाधिः । अस्मिन्नेवाऽऽलम्बने पूर्वापरानुसंधानशब्दार्थोल्लेखशून्यत्वेन यदा भावना प्रवर्तते तदा निर्वितर्कः । एतावुभावप्यत्र वितर्कशब्देनोक्तौ । तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मं विषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावना प्रवर्तते तदा सविचारः । अस्मिन्नेवाऽऽलम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्रावभासित्वेन यदा भावना प्रवर्तते तदा निर्विचारः । एतावुभावप्यत्र विचारशब्देनोक्तौ । तथा च भाष्यं वितर्कश्चित्तस्य स्थूल आलम्बन आभोगः सूक्ष्मे विचार इति । इयं ग्राह्यसमापत्तिरिति व्यपदिश्यते । यदा रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते तदा गुणभावाच्चिच्छक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात्सानन्दः समाधिर्भवति । अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धतत्त्वस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगतदेहाहंकारत्वाद्विदेहशब्देनोच्यन्ते । इयं ग्रहणसमापत्तिः । ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धं सत्त्वमालम्ब्यैनीकृत्य या भावना प्रवर्तते तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावाच्चितिशक्तेरुद्रेकात्सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मित इत्युच्यते । न चाहंकारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः । यतो यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयान्वेदयते सोऽहंकारः । यत्र त्वन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति साऽस्मिता । अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषास्ते परं पुरुषमपश्यन्तश्चेतसः प्रकृतौ लीनत्वात्प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते । सेयं ग्रहीतृसमापत्तिरस्मितामात्ररूपग्रहीतृनिष्ठत्वात् । ये तु परं पुरुषं

है उस समय सवितर्क समाधि होती है । इसी आलम्बनमें जब आगे-पीछेके अनुसन्धान और शब्द एवं अर्थकी स्मृतिसे रहित भावना होती है तब निर्वितर्क समाधि होती है । उक्त सूत्रमें ये दोनों समाधि 'वितर्क' शब्दसे कही गयी हैं । तथा जब अन्तःकरणरूप सूक्ष्मविषयको आलम्बन बनाकर उसके देश-काल और धर्मोंके अवच्छेदपूर्वक भावना की जाती है तब सविचार समाधि होती है । और इसी आलम्बनमें जब देश, काल और धर्मोंके अवच्छेदसे रहित धर्मिमात्रकी प्रकाशिकारूपसे भावना होती है तब निर्विचार समाधि होती है । ये दोनों समाधि यहाँ 'विचार' शब्दसे कही गयी हैं । योगभाष्य भी ऐसा ही कहता है—'चित्तका स्थूल आलम्बनमें स्थिर होना 'वितर्क' है और सूक्ष्ममें स्थिर होना 'विचार' है ।' यह 'ग्राह्यसमापत्ति' कही जाती है । जिस समय रजोगुण और तमोगुणके लेशसे युक्त अन्तःकरणके सत्त्वगुणकी भावना की जाती है उस समय चिच्छक्तिकी गौणता हो जानेसे भावना किये जाते हुए सत्त्वगुणका उद्रेक होनेसे सानन्द-समाधि होती है । जिन लोगोंका धैर्य इसी समाधिमें बँधा रहता है वे इससे भिन्न तत्त्व प्रधान और पुरुषको नहीं देख पाते तथा देहाभिमानसे रहित हो जानेके कारण 'विदेह' शब्दसे कहे जाते हैं, यह ग्रहणसमापत्ति है । इससे आगे जो भावना रजोगुण और तमोगुणके लेशसे अतिरस्कृत शुद्ध सत्त्वको आलम्बन बनाकर प्रवृत्त होती है उसमें ग्राह्य सत्त्वकी निवृत्ति हो जानेके कारण चिच्छक्तिका उद्रेक होनेपर केवल सत्तामात्र रह जानेके कारण वह समाधि 'सास्मित' कही जाती है । यहाँ अहंकार और अस्मिताके अभेदकी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जहाँ अन्तःकरण 'अहम्' ऐसे उल्लेखपूर्वक विषयोंको ग्रहण करता है वह अहङ्कार है और जहाँ आन्तर्मुखरूपसे प्रतिलोम परिणामके द्वारा चित्तके प्रकृतिमें लीन हो जानेपर केवल सत्तामात्रका भान होता है वह अस्मिता है । जिन्होंने इसी समाधिमें सन्तोष कर लिया है वे परमपुरुषका साक्षात्कार न करके चित्तके प्रकृतिमें लीन हो जानेके कारण 'प्रकृतिलय' कहे जाते हैं । यह ग्रहीतृसमापत्ति है, क्योंकि अस्मितामात्र रूप ग्रहीतामें ही रहनेवाली है । जो लोग परम पुरुषका विवेक

विविच्य भावनायां प्रवर्तन्ते, तेषामपि केवलपुरुषविषया विवेकख्यातिर्ग्रहीतृसमापत्तिरपि न सास्मितः समाधिर्विवेकेनास्मितायास्त्यागात् ।

(१) तत्र ग्रहीतृभानपूर्वकमेव ग्रहणभानं तत्पूर्वकं च सूक्ष्मग्राह्यभानं तत्पूर्वकं च स्थूलग्राह्यभानमिति स्थूलविषयो द्विविधोऽपि वितर्कश्चतुष्टयानुगतः । द्वितीयो वितर्कविकलस्त्रितयानुगतः । तृतीयो वितर्कविचाराभ्यां विकलो द्वितयानुगतः । चतुर्थो वितर्कविचारानन्दैर्विकलोऽस्मितामात्र इति चतुरवस्थोऽयं संप्रज्ञात इति । एवं सवितर्कः सविचारः सानन्दः सास्मितश्च समाधिरन्तर्धानादिसिद्धिहेतुतया मुक्तिहेतुसमाधिविरोधित्वाद्धेय एव मुमुक्षुभिः । ग्रहीतृग्रहणयोरपि चित्तवृत्तिविषयतादशायां ग्राह्यकोटौ निक्षेपाद्धेयोपादेयविभागकथनाय ग्राह्यसमापत्तिरेव विवृता सूत्रकारेण । चतुर्विधा हि ग्राह्यसमापत्तिः स्थूलग्राह्यगोचरा द्विविधा सवितर्का निर्वितर्का च । सूक्ष्मग्राह्यगोचराऽपि द्विविधा सविचारा निर्विचारा च । 'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का' (पा० द० १।४२) शब्दार्थज्ञानविकल्पसंभिन्ना स्थूलार्थावभासरूपा सवितर्का समापत्तिः स्थूलगोचरा सविकल्पकवृत्तिरित्यर्थः । 'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का' (पा० द० १।४३) तस्मिन्नेव स्थूल आलम्बने शब्दार्थस्मृतिप्रविलये प्रत्युदितस्पष्टग्राह्याकारप्रतिभासितया न्यग्भूतज्ञानांशत्वेन स्वरूपशून्येव निर्वितर्का समापत्तिः स्थूलगोचरा निर्विकल्पकवृत्तिरित्यर्थः । 'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता' (पा० द० १।४४) सूक्ष्मस्तन्मात्रादिर्विषयो यस्याः सा

करके भावनामें प्रवृत्त होते हैं उनकी केवल पुरुषविषयिनी विवेकख्याति ग्रहीतृसमापत्ति होनेपर भी सास्मित समाधि नहीं है, क्योंकि विवेकके द्वारा अस्मिताका तो त्याग हो जाता है ।

(१) ग्रहीताके भानपूर्वक ही ग्रहणका भान होता है और उसके भानपूर्वक सूक्ष्म ग्राह्यका भान एवं सूक्ष्मग्राह्यके भानपूर्वक स्थूल ग्राह्यका भान होता है—इस प्रकार स्थूलविषयक दोनों प्रकारका वितर्क चारों प्रकारकी समाधियोंसे अनुगत है, दूसरा विचार वितर्कको छोड़कर शेष तीनसे अनुगत है, तीसरा आनन्द वितर्क और विचारके सिवा शेष दोसे अनुगत है और चौथा अस्मिता वितर्क विचार और आनन्दसे रहित केवल अस्मितामात्र है—इस प्रकार यह चार अवस्थाओंवाली सम्प्रज्ञात समाधि है । इस तरह ये सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित समाधियाँ अन्तर्धानादि सिद्धियोंकी हेतु होनेसे मुक्तिकी हेतुभूता समाधिकी विरोधिनी होनेके कारण मुमुक्षुओंके लिये त्याज्य ही हैं । ग्रहीता और ग्रहण भी चित्तवृत्तिकी विषयतादशामें ग्राह्यकोटिमें आ पड़ते हैं, इसलिये सूत्रकारने हेय और उपादेयका विभाग बताने के लिये उनका ग्राह्यसमापत्तिमें ही समावेश कर दिया है । ग्राह्यसमापत्ति चार प्रकारकी है—सवितर्का और निर्वितर्का ऐसी दो प्रकारकी तो स्थूलग्राह्यविषयिनी समापत्ति है और सविचारा एवं निर्विचारा ऐसी दो प्रकारकी सूक्ष्मग्राह्यविषयिनी समापत्ति है । 'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का'—शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप विकल्पोंसे युक्त स्थूल विषयोंकी प्रकाशरूपा सवितर्का समापत्ति होती है, अर्थात् वह स्थूलविषयिनी सविकल्पक चित्तवृत्ति है । तथा 'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का'—उस स्थूल आलम्बनमें ही शब्द और अर्थकी स्मृतिका लय हो जानेपर जो उदित हुए ग्राह्यके स्पष्ट आकारको प्रकाशित करनेवाली होकर ज्ञानांशकी भी गौणताके कारण स्वरूपशून्यसी होती है वह निर्वितर्का समापत्ति अर्थात् स्थूलविषयिनी निर्विकल्पक चित्तवृत्ति है । 'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता'—

सूक्ष्मविषया समापत्तिर्द्विविधा सविचारा निर्विचारा च सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदेन । एतयैव सवितर्कया निर्वितर्कया च स्थूलविषयया समापत्त्या व्याख्याता । शब्दार्थज्ञानविकल्पसहितत्वेन देशकालधर्माद्यवच्छिन्नः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा सविचारा । शब्दार्थज्ञानविकल्परहितत्वेन देशकालधर्माद्यनवच्छिन्नत्वेन च धर्मिमात्रतया सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा निर्विचारा । सविचारनिर्विचारयोः सूक्ष्मविषयत्वविशेषणात्सवितर्कनिर्वितर्कयोः स्थूलविषयत्वमर्थाद्व्याख्यातम् । 'सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्' (पा० द० १।४५) सविचारायां निर्विचारायाश्च समापत्तेर्यत्सूक्ष्मविषयत्वमुक्तं तदलिङ्गपर्यन्तं द्रष्टव्यम् । तेन सानन्दसास्मितयोर्ग्रहितृग्रहणसमापत्त्योरपि ग्राह्यसमापत्तावेवान्तर्भाव इत्यर्थः । तथा हि—पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्यापि रसतन्मात्रं, तैजसस्य रूपतन्मात्रं, वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रं, नभसः शब्दतन्मात्रं, तेषामहंकारस्तस्य लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्याप्यलिङ्गं प्रधानं सूक्ष्मो विषयः । सप्तानामपि प्रकृतीनां प्रधान एव सूक्ष्मताविश्रान्तेस्तत्पर्यन्तमेव सूक्ष्मविषयत्वमुक्तम् । यद्यपि प्रधानादपि पुरुषः सूक्ष्मोऽस्ति तथाऽप्यन्वयिकारणस्वाभावात्तस्य सर्वान्वयिकारणे प्रधान एव निरतिशयं सौक्ष्म्यं व्याख्यातं, पुरुषस्तु निमित्तकारणं सदपि नानन्वयिकारणत्वेन सूक्ष्मतामर्हति । अन्वयिकारणत्वविवक्षायां तु पुरुषोऽपि सूक्ष्मो भवत्येवेति द्रष्टव्यम् । 'ता एव सबीजः समाधिः' (पा० द० १।४६) ताश्चतस्रः समापत्तयो ग्राह्येण बीजेन सह वर्तन्त इति सबीजः समाधिर्वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञात इति प्रागुक्तः । स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः । सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति ।

जिसका तन्मात्रादि सूक्ष्म विषय है वह सूक्ष्मविषयिनी समापत्ति सविचारा और निर्विचारा दो प्रकारकी है । सविकल्पक और निर्विकल्पक भेदसे इस स्थूलविषयिनी सवितर्का और निर्वितर्का समापत्तिसे ही इसकी भी व्याख्या कर दी गयी है । अतः जिस समाधिमें शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप विकल्पके सहित देश, काल और धर्मादिसे अवच्छिन्न सूक्ष्म अर्थका भान होता है वह सविचारा है तथा जिसमें शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप विकल्पसे रहित एवं देश, काल और धर्मादिसे अनवच्छिन्न केवल धर्मीरूपसे सूक्ष्म अर्थका भान होता है वह निर्विचारा है । यहाँ सविचारा और निर्विचारा समापत्तियोंको 'सूक्ष्मविषया' ऐसा विशेषण देनेसे सवितर्का और निर्वितर्का समापत्तियोंकी स्थूलविषयता अर्थतः स्पष्ट हो जाती है । 'सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्'—सविचारा और निर्विचारा समापत्तियोंकी जो सूक्ष्मविषयता कही गयी है वह अलिंगपर्यन्त समझनी चाहिये । इसलिये तात्पर्य यह है कि ग्रहीतृविषयिनी सास्मित और ग्रहणविषयिनी सानन्द समापत्तियोंका भी ग्राह्यसमापत्तिमें ही समावेश हो जाता है । इस प्रकार पार्थिव अणुका सूक्ष्म विषय गन्धतन्मात्र है, जलीय अणुका रसतन्मात्र है, तैजस अणुका रूपतन्मात्र है, वायवीय अणुका स्पर्शतन्मात्र है और आकाशका शब्दतन्मात्र है । इन सब तन्मात्रोंका सूक्ष्मविषय अहंकार है, उसका लिंगमात्र महत्तत्त्व है और उसका भी सूक्ष्मविषय अलिंगप्रधान है । सातों प्रकृतियोंकी सूक्ष्मता का पर्यवसान प्रधानमें ही होता है, इसलिये उसी तक सूक्ष्मविषयता कही गयी है । यद्यपि पुरुष प्रधानसे भी सूक्ष्म है तथापि वह उसका उपादान कारण नहीं है, इसलिये सबके उपादान कारण प्रधानमें ही निरतिशय सूक्ष्मताकी व्याख्या की गयी है । पुरुष तो निमित्त कारण होनेपर भी उपादनकारण न होनेके कारण उनकी सूक्ष्मताके योग्य नहीं है । यदि उपादान कारणता बतानी अभीष्ट न हो तो पुरुष भी सूक्ष्म है ही—ऐसा समझना चाहिये । 'ता एव सबीजः समाधिः' ये चारों समापत्तियाँ ग्राह्य रूप बीजसे युक्त हैं इसलिये 'वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्

(१) तत्रान्तिमस्य फलमुच्यते—'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' (पा० द० १।४७) स्थूलविषयत्वे तुल्येऽपि सवितर्कं शब्दार्थज्ञानविकल्पसंकीर्णमपेक्ष्य तद्रहितस्य निर्विकल्पकरूपस्य स्थूलविषयस्य निर्वितर्कस्य प्राधान्यं, ततोऽपि सूक्ष्मविषयस्य सविकल्पकप्रतिभासरूपस्य सविचारस्य, ततोऽपि सूक्ष्मविषयस्य निर्विकल्पकप्रतिभासरूपस्य निर्विचारस्य प्राधान्यम् । तत्र पूर्वेषां त्रयाणां निर्विचारार्थत्वान्निर्विचारफलेनैव फलवत्त्वं, निर्विचारस्य तु प्रकृष्टाभ्यासबलाद्वैशारद्ये रजस्तमोनभिभूतसत्त्वोद्रेके सत्यध्यात्मप्रसादः क्लेशवासनारहितस्य चित्तस्य भूतार्थविषयः क्रमानुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः प्रादुर्भवति। तथा च भाष्यम्—

'प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥' इति ।

'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' (पा० द० १।४८) तत्र तस्मिन्प्रज्ञाप्रसादे सति समाहितचित्तस्य योगिनो या प्रज्ञा जायते सर्तंभरा । ऋतं सत्यमेव बिभर्ति न तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्तीति यौगिक्येवेयं समाख्या । सा चोत्तमो योगः । तथा च भाष्यम्—

'आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्याससरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥' इति ।

सा तु 'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' (पा० द० १।४९) श्रुतागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयमेव । न हि विशेषेण सह कस्यचिच्छब्दस्य संगतिर्ग्रहीतुं शक्यते । तथाऽनुमानं

सम्प्रज्ञातः' इस सूत्रसे पहले कही हुई सबीज समाधि हैं। स्थूल अर्थमें सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति होती हैं तथा सूक्ष्म अर्थमें सविचार और निर्विचार।

(१) इनमेंसे अन्तिम समापत्तिका फल कहा जाता है—'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः'—स्थूल विषयतामें समानता होनेपर भी शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप विकल्पसे युक्त सवितर्का समापत्तिकी अपेक्षा इनसे रहित निर्विकल्पकरूप निर्वितर्क समापत्तिकी प्रधानता है, उसकी अपेक्षा सूक्ष्मविषयिनी सविकल्पक प्रतिभासरूपा सविचाराकी और उसकी भी अपेक्षा सूक्ष्मविषयिनी निर्विकल्पप्रतिभासरूपा निर्विचारा समापत्तिकी प्रधानता है। इस प्रकार पहली तीन समापत्तियाँ निर्विचाराके ही लिये हैं, अतः निर्विचाराके फलसे ही उनकी भी सफलता है। अत्यन्त अभ्यासके बलसे निर्विचारा समापत्तिकी विशुद्धता होनेपर—रजोगुण-तमोगुणसे अतिरस्कृत सत्त्वगुणका उद्रेक होनेपर अध्यात्मप्रसाद होता है। अर्थात् क्लेश और वासनाओंसे रहित चित्तका क्रमके अनुरोधसे रहित यथार्थ वस्तुको विषय करनेवाला स्पष्ट ज्ञानालोक प्रकट होता है। ऐसा ही भाष्य भी कहता है—'पर्वतपर बैठा हुआ पुरुष जैसे पृथिवीपरके लोगोंको देखता है वैसे ही प्रज्ञाकी निर्मलतापर आरूढ हुआ विद्वान् स्वयं शोकके अयोग्य होकर अन्य शोकाकुल पुरुषोंको देखता है।' 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'—उस प्रज्ञाप्रसादके होनेपर समाहितचित्त योगीको जो प्रज्ञा होती है वह ऋतम्भरा होती है। जो ऋत—सत्यको ही धारण करती है, अतः जिसमें विपर्ययका गन्ध भी नहीं है—इस प्रकार 'ऋतम्भरा' यह यौगिकी संज्ञा ही है तथा यह उत्तम योग है। ऐसा ही भाष्य भी कहता है—'आगमसे, अनुमानसे और ध्यानाभ्यासके रससे—इस तरह तीन प्रकारसे प्रज्ञाकी व्यवस्था करके पुरुष उत्तम योग प्राप्त करता है। 'सा तु श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्'—श्रुत आगमविज्ञानको कहते हैं, वह सामान्यको ही विषय करता है, क्योंकि विशेषके साथ किसी भी शब्दकी संगतिका ग्रहण नहीं हो सकता। तथा अनुमान भी सामान्यको ही विषय करता

सामान्यविषयमेव। न हि विशेषेण सह कस्यचिल्लिङ्गस्य व्याप्तिर्ग्रहीतुं शक्यते। तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्ति। न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति। किं तु समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा। तस्मान्निर्विचारवैशारद्यसमुद्भवायां श्रुतानुमानविलक्षणायां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टसर्वविशेषविषयायामृतंभरायामेव प्रज्ञायां योगिना महान्प्रयत्न आस्थेय इत्यर्थः।

(१) ननु क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यव्युत्थानसंस्काराणामेकाग्रतायामपि सवितर्कनिर्वितर्कसविचारजानां संस्काराणां सद्भावात्तैश्चाल्प्यमानस्य चित्तस्य कथं निर्विचारवैशारद्यपूर्वकाध्यात्मप्रसादलभ्यर्तंभरा प्रज्ञा प्रतिष्ठिता स्यादत आह—'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' (पा० द० १।५०) तयर्तम्भरया प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः स तत्त्वविषयया प्रज्ञया जनितत्वेन बलवत्त्वादन्यान्व्युत्थानजान्समाधिजांश्च संस्कारानतत्त्वविषयप्रज्ञाजनितत्वेन दुर्बलान्प्रतिबध्नाति स्वकार्याङ्गमान्करोति नाशयतीति वा। तेषां संस्काराणामभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति। ततः समाधिरुपतिष्ठते। ततः समाधिजा प्रज्ञा। ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवः संस्काराशयो वर्धते। ततश्च प्रज्ञा। ततश्च संस्कारा इति।

(२) ननु भवतु व्युत्थानसंस्काराणामतत्त्वविषयप्रज्ञाजनितानां तत्त्वमात्रविषयसंप्रज्ञातसमाधिप्रज्ञाप्रभवैः संस्कारैः प्रतिबन्धस्तेषां तु संस्काराणां प्रतिबन्धकाभावादेकाग्रभूमावेव सबीजः

है, क्योंकि विशेषके साथ किसी भी लिंगकी व्याप्तिका ग्रहण नहीं हो सकता। अतः श्रुत और अनुमानको विषय करनेवाला कोई भी विशेष नहीं है। इस सूक्ष्म व्यवहित और दूरवर्ती विषयका लौकिक प्रत्यक्षसे भी ग्रहण नहीं हो सकता। अपितु वह विशेष तो—भूतसूक्ष्मगत हो अथवा पुरुषगत—समाधिप्रज्ञासे ही ग्रहण किया जा सकता है। अतः तात्पर्य यह है कि योगीका निर्विचार समाधिके वैशारद्यसे होनेवाली, श्रुत और अनुमानसे विलक्षण, सूक्ष्म व्यवहित और दूरस्थ सभी विशेषोंको विषय करनेवाली ऋतम्भरा प्रज्ञाके लिये ही महान् प्रयत्न करना चाहिये।

(१) 'किन्तु क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्तसंज्ञक व्युत्थानके संस्कारोंकी एकाग्रता होनेपर भी सवितर्क, निर्वितर्क और सविचार समाधिजनित संस्कारोंके रहनेसे उनसे चंचल हुए चित्तमें निर्विचार समाधिकी विशुद्धिसे होनेवाले अध्यात्मप्रसादसे प्राप्त होनेवाली ऋतम्भरा प्रज्ञा किस प्रकार प्रतिष्ठित हो सकती है?' ऐसी आशंका करके कहते हैं—'तज्जः संस्कारोऽन्य-संस्कारप्रतिबन्धी'—उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न हुआ जो संस्कार होता है वह तत्त्वविषयिनी प्रज्ञासे उत्पन्न हुआ होनेके कारण अधिक बलवान् होनेसे दूसरे व्युत्थानजनित और समाधिजनित संस्कारोंको, जो तत्त्वविषयिनी प्रज्ञासे उत्पन्न न होनेके कारण दुर्बल होते हैं, प्रतिबद्ध अर्थात् अपना कार्य करनेमें असमर्थ या नष्ट कर देता है। उन संस्कारोंके तिरस्कृत हो जानेसे उनके कारण होनेवाले प्रत्यय (ज्ञान) नहीं होते, उससे समाधि प्राप्त होती है, उससे समाधिजनित प्रज्ञा होती है और उससे पुनः प्रज्ञाजनित संस्कार होते हैं—इस प्रकार नये-नये संस्कारातिशयकी वृद्धि होती है। उससे पुनः प्रज्ञा होती है और प्रज्ञासे पुनः संस्कार होते हैं।

(२) 'तत्त्वको विषय न करनेवाली प्रज्ञासे उत्पन्न हुए व्युत्थानसंस्कारोंका केवल तत्त्वको ही विषय करनेवाली सम्प्रज्ञातसमाधिप्रज्ञासे उत्पन्न हुए संस्कारोंसे भले ही प्रतिबन्ध हो जाय किन्तु उन सम्प्रज्ञातसमाधिप्रज्ञाजनित संस्कारों का कोई प्रतिबन्धक न होनेसे एकाग्र भूमिमें ही सबीज समाधि होगी, निरुद्धभूमिमें निर्बीज समाधि नहीं

समाधिः स्याच्च तु निर्बीजो निरोधभूमाविति तत्राऽऽह—'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' (पा० द० १।५१) तस्य संप्रज्ञातस्य समाधेरेकाग्रभूमिजस्य, अपिशब्दाच्चिप्तमूढविक्षिप्तानामपि निरोधे योगिप्रयत्नविशेषेण विलये सति सर्वनिरोधात्समाधेः समाधिजस्य संस्कारस्यापि निरोधान्निर्बीजो निरालम्बनोऽसंप्रज्ञातसमाधिर्भवति । स च सोपायः प्रागुक्तः 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (पा० द० १।१८) इति । विरम्यतेऽनेनेति विरामो वितर्कविचारानन्दास्मितादिरूपचिन्तात्यागः । तस्य प्रत्ययः कारणं परं वैराग्यमिति यावत् । विरामश्चासौ प्रत्ययश्चित्तवृत्तिविशेष इति वा । तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन चेतसि निवेशनं, तदेव पूर्वं कारणं यस्य स तथा संस्कारमात्रशेषः सर्वथा निर्वृत्तिकोऽन्यः पूर्वोक्तात्सबीजाद्विलक्षणो निर्बीजोऽसंप्रज्ञातसमाधिरित्यर्थः । असंप्रज्ञातस्य हि समाधेर्द्वावुपायावुक्तावभ्यासो वैराग्यं च । तत्र सालम्बनत्वादभ्यासस्य न निरालम्बनसमाधिहेतुत्वं घटत इति निरालम्बनं परं वैराग्यमेव हेतुत्वेनोच्यते । अभ्यासस्तु संप्रज्ञातसमाधिद्वारा प्रणाड्योपयुज्यते । तदुक्तं 'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः' (पा० द० ३।७) धारणाध्यानसमाधिरूपं साधनत्रयं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहाररूपसाधनपञ्चकापेक्षया सबीजस्य समाधेरन्तरङ्गं साधनम् । साधनकोटौ च समाधिशब्देनाभ्यास एवोच्यते । मुख्यस्य समाधेः साध्यत्वात् । 'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य' (पा० द० ३।८) निर्बीजस्य तु समाधेस्तदपि त्रयं बहिरङ्गं परम्परयोपकारि तस्य तु परं वैराग्यमेवान्तरङ्गमित्यर्थः ।

(१) अयमपि द्विविधो भवप्रत्यय उपायप्रत्ययश्च । 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्'

हो सकेगी' ऐसा यदि कोई कहे तो सूत्रकार कहते हैं—'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः'—एकाग्रभूमिसे उत्पन्न हुई उस सम्प्रज्ञातसमाधिका और 'अपि' शब्दसे क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमियोंका भी निरोध—योगीके प्रयत्नविशेषसे विलय होनेपर सबका निरोध हो जानेसे अर्थात् समाधि और समाधिजनित संस्कारोंका भी निरोध हो जानेसे निर्बीज—निरालम्बन अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि होती है । इसे इसके साधनसहित पहले ही सूत्रबद्ध किया है—'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः'—जिसके द्वारा विरत हुआ जाता है वह विराम अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितादिरूप चिन्ताका त्याग है उसका जो प्रत्यय—कारण अर्थात् परवैराग्य है, अथवा विरामरूप जो प्रत्यय—चित्तवृत्तिविशेष है, उसका अभ्यास पुनः पुनः चित्त में स्थिर करना वही है पूर्व अर्थात् कारण जिसका वह इस प्रकार संस्कारमात्रशेष सर्वथा वृत्तिशून्य अन्य अर्थात् पूर्वोक्त सबीज समाधिसे विलक्षण निर्बीज यानी असम्प्रज्ञात समाधि है । सम्प्रज्ञात समाधिके अभ्यास और वैराग्य दो उपाय बताये गये हैं । इनमें अभ्यास आलम्बनसहित होता है, इसलिये यह आलम्बनशून्य निर्बीज समाधिका कारण नहीं हो सकता, अतः इसके कारणरूपसे आलम्बनशून्य परवैराग्य ही कहा जाता है । अभ्यास तो सम्प्रज्ञात समाधिके द्वारा परम्परासे इसमें उपयोगी है । कहा भी है—'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः'—धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहाररूप पाँच साधनोंकी अपेक्षा सबीज समाधिके अन्तरंग साधन हैं । यहाँ साधनकोटिमें 'समाधि' शब्दसे अभ्यास ही कहा गया है, क्योंकि मुख्य समाधि तो साध्य ही है । किन्तु 'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य'—निर्बीज समाधिके तो ये तीनों भी बहिरंग साधन हैं, इनके द्वारा परम्परासे उपकारित उस समाधिका तो परवैराग्य ही अन्तरंग साधन है—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

(१) यह निर्बीज समाधि भी दो प्रकारकी है—भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय ।

(पा० द० १।१९) विदेहानां सानन्दानां प्रकृतिलयानां च सास्मितानां देवानां प्राग्व्याख्यातानां जन्मविशेषादोषधिविशेषान्मन्त्रविशेषात्तपोविशेषाद्वा यः समाधिः स भवप्रत्ययः । भवः संसार आत्मानात्मविवेकाभावरूपः प्रत्ययः कारणं यस्य स तथा । जन्ममात्रहेतुको वा पक्षिणामाकाशगमनवत्, पुनः संसारहेतुत्वान्मुमुक्षुभिर्हेय इत्यर्थः । 'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' (पा० द० १।२०) जन्मौषधिमन्त्रतपःसिद्ध्यतिरिक्तानामात्मानात्मविवेकदर्शिनां तु यः समाधिः स श्रद्धादिपूर्वकः । श्रद्धादयः पूर्व उपाया यस्य स तथा, उपायप्रत्यय इत्यर्थः । तेषु श्रद्धा योगविषये चेतसः प्रसादः । सा हि जननीव योगिनं पाति । ततः श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुत्साह उपजायते । समुपजातवीर्यस्य पाश्चात्यासु भूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते । तत्स्मरणाच्च चित्तमनाकुलं सत्समाधीयते । समाधिरत्रैकाग्र्यता । समाहितचित्तस्य प्रज्ञा भाव्यगोचरा विवेकेन जायते । तदभ्यासात्पराच्च वैराग्याद्भवत्यसंप्रज्ञातः समाधिर्मुमुक्षूणामित्यर्थः । 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः' इति न्यायेन तस्यामपि सर्ववृत्तिनिरोधावस्थायां चित्तपरिणामप्रवाहस्तज्जन्यसंस्कारप्रवाहश्च भवत्येवेत्यभिप्रेत्य संस्कारशेष इत्युक्तम् । तस्य च संस्कारस्य प्रयोजनमुक्तम्—'ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (पा० द० ३।१०) इति । प्रशान्तवाहिता नामावृत्तिकस्य चित्तस्य निरिन्धनाग्निवत्प्रतिलोमपरिणामेनोपशमः । यथा समिदाज्याद्याहुतिप्रक्षेपे वह्निरुत्तरोत्तरवृद्धया प्रज्वलति । समिदादिक्षये तु प्रथमक्षणे किंचिच्छाम्यति । उत्तरोत्तरक्षणेषु त्वधिकमधिकं शाम्यतीति

इनमें 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्'—विदेह—सानन्दसमाधिनिष्ठ और प्रकृतिलय—सास्मितसमाधिनिष्ठ देवताओंको, जिनकी पहले व्याख्या की जा चुकी है, जन्मविशेष, औषधविशेष, मन्त्रविशेष अथवा तपविशेषसे जो समाधि होती है वह भवप्रत्यय है । भव अर्थात् आत्मा-अनात्माके विवेकका अभावरूप संसार है प्रत्यय—कारण जिसका वह अथवा जो पक्षियोंके आकाशगमनके समान [किसी योनिविशेषमें] केवल जन्मरूप हेतुसे ही सिद्ध हो जाती है वह इस प्रकारकी समाधि भवप्रत्यय कही जाती है । भाव यह है कि यह पुनः संसारप्राप्तिकी हेतु होनेके कारण मुमुक्षुओंके लिये त्याज्य है । तथा 'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्'—जन्म, ओषधि, मन्त्र और तपसे सिद्ध हुओंके सिवा अन्य आत्मा और अनात्माका विवेकदर्शन करनेवालोंको जो समाधि होती है वह श्रद्धादिपूर्वक अर्थात् श्रद्धादि जिसके पूर्व उपाय हैं ऐसी हुआ करती है । तात्पर्य यह कि वह उपायप्रत्यय है । उनमें 'श्रद्धा' योगविषयमें चित्तके प्रसादका नाम है । वह माताके समान योगीकी रक्षा करती है । उससे श्रद्धालु विवेकार्थीको वीर्य अर्थात् उत्साह उत्पन्न होता है । जिसमें उत्साह उत्पन्न हो गया है उस योगीको पिछली भूमिकाओंकी स्मृति होती है । उनकी स्मृति होनेसे चित्त व्याकुलताको छोड़कर समाहित हो जाता है । यहाँ 'समाधि' एकाग्रताको कहा है । समाहितचित्तकी प्रज्ञा विवेक द्वारा भाव्यविषयिनी हो जाती है । उसके अभ्यास और परवैराग्यके द्वारा मुमुक्षुओंको असम्प्रज्ञात समाधि होती है—ऐसा इसका तात्पर्य है । 'चितिशक्तिके सिवा और सब पदार्थ प्रतिक्षण परिणामको प्राप्त होनेवाले हैं' इस न्यायसे उस सब वृत्तियोंके निरोधकी अवस्थामें भी चित्तके परिणामका प्रवाह और तज्जनित संस्कारोंका प्रवाह चलता ही रहता है—इसी अभिप्रायसे उसे 'संस्कारशेषः' कहा है । उस संस्कारका प्रयोजन 'ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' इस सूत्रसे कहा है । प्रशान्तवाहिता यह वृत्तिशून्य चित्तका काष्ठहीन अग्निके समान प्रतिलोम परिणामसे शान्त हो जाना है । जिस प्रकार काष्ठ और घृत आदिकी आहुति डालनेसे अग्नि उत्तरोत्तर बढ़कर प्रज्वलित हो जाती है तथा काष्ठादिका क्षय होनेपर

क्रमेण शान्तिवर्धते। तथा निरुद्धचित्तस्योत्तरोत्तराधिकः प्रशमः प्रवहति। तत्र पूर्वप्रशमजनितः संस्कार एवोत्तरोत्तरप्रशमस्य कारणम्। तदा च निरिन्धनाग्निवच्चित्तं क्रमेणोपशाम्यद्व्युत्थानसमाधिनिरोधसंस्कारैः सह स्वस्यां प्रकृतौ लीयते। तदा च समाधिपरिपाकप्रभवेन वेदान्तवाक्यजेन सम्यग्दर्शनेनाविद्यायां निवृत्तायां तद्धेतुकदृग्दृश्यसंयोगाभावाद्वृत्तौ पञ्चविधायामपि निवृत्तायां स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुषः शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यते। तदुक्तं 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (पा० द० १।३) इति। तदा सर्ववृत्तिनिरोधे। वृत्तिदशायां तु नित्यापरिणामिचैतन्यरूपत्वेन तस्य सर्वदा शुद्धत्वेऽप्यनादिना दृश्यसंयोगेनाऽऽविद्यकेनान्तःकरणतादात्म्याध्यासादन्तःकरणवृत्तिसारूप्यं प्राप्नुवन्नभोक्ताऽपि भोक्तेव दुःखानां भवति। तदुक्तं 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (पा० द० १।४) इतरत्र वृत्तिप्रादुर्भावे। एतदेव विवृतं 'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्' (पा० द० ४।२३) चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयिविषयनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनमपि चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते। तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः। 'तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्' (पा० द० ४।२४) यस्य भोगापवर्गार्थं तत्स एव

कुछ तो पहले क्षणमें शान्त होती है और फिर आगे-आगेके क्षणोंमें अधिक-अधिक शान्त होती जाती है, इस प्रकार क्रमशः उसकी शान्ति बढ़ जाती है; इसी प्रकार निरुद्धचित्तका भी उत्तरोत्तर अधिक उपशम बढ़ता जाता है। इसमें प्रथम उपशमसे उत्पन्न हुआ संस्कार ही आगे-आगेके उपशमका कारण होता है। फिर चित्त काष्ठहीन अग्निके समान क्रमसे शान्त होता हुआ व्युत्थान समाधि और निरोधसंस्कारोंके सहित अपने कारणमें लीन हो जाता है। तब समाधिके परिपाकसे होनेवाले वेदान्तवाक्यजनित सम्यग्ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर उससे होनेवाले द्रष्टा और दृश्यके संयोगके अभाव द्वारा पाँचों प्रकारकी वृत्तियोंके निवृत्त हो जानेपर स्वरूपमें स्थित हुआ पुरुष शुद्ध, केवल और मुक्त कहा जाता है। इसीसे कहा है—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'[1] 'तदा' (तब) अर्थात् समस्त वृत्तियोंका निरोध होनेपर। वृत्तियों के रहनेके समय तो नित्य अपरिणामी चैतन्यरूपसे उसके सर्वदा शुद्ध होनेपर भी अविद्याजनित अनादि दृश्यसंयोगसे अन्तःकरणके तादात्म्यका अध्यास होनेसे अन्तःकरणकी वृत्तियोंके सारूप्यको प्राप्त होकर वह भोक्ता न होनेपर भी दुःखोंका भोक्ता हो जाता है। ऐसा ही कहा भी है—'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'।[2] 'इतरत्र' (अन्य अवस्थाओंमें) अर्थात् वृत्तियोंके प्रादुर्भावके समय। 'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्' इस सूत्रसे इसीका स्पष्टीकरण किया है। द्रष्टा और दृश्यसे सम्बद्ध चित्त ही विषयी और विषयरूपसे भासित होनेवाला, चेतन और अचेतन स्वरूपको प्राप्त हुआ, विषयात्मक होनेपर भी अविषयात्मक-सा और अचेतन होनेपर भी चेतन-सा—इस प्रकार स्फटिकमणिके समान 'सर्वार्थ' (सम्पूर्ण अर्थरूप) कहा जाता है। इस चित्तसारूप्यके कारण भ्रममें पड़े हुए कोई-कोई उसीको 'चेतन' कह देते हैं। 'तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्'[3] वह जिसके भोग और अपवर्गके लिये है वह पुरुष असंहत और चेतन है, घटादिके समान संहत होकर प्रवृत्त होनेवाला चित्त चेतन नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है। इस प्रकार

१. तब द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति हो जाती है।

२. अन्य अवस्थाओंमें उसका वृत्तियोंसे सारूप्य रहता है।

३. अगणित वासनाओंके कारण तथा संहत्यकारी (मिलकर क्रिया करनेवाला) होनेसे वह चित्त परार्थ है।

परश्चेतनोऽसंहतः पुरुषो न तु घटादिवत्संहत्यकारि चित्तं चेतनमित्यर्थः। एवं च 'विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः' (पा० सू० ४।२५) एवं योऽन्तःकरणपुरुषयोर्विशेषदर्शी तस्य याऽन्तःकरणे प्रागविवेकवशादात्मभावभावनाऽऽसीत्सा निवर्तते, भेददर्शने सत्यभेदभ्रमानुपपत्तेः।

(१) सत्त्वपुरुषयोर्विशेषदर्शनं च भगवदर्पितनिष्कामकर्मसाध्यं, तल्लिङ्गं च योगभाष्ये दर्शितम्—यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्ताऽनुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन सिद्धान्तरुचिवशाच्चस्य लोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गमार्गीयं कर्माभिनिर्वर्तितमित्यनुमीयते। यस्य तु तादृशं कर्मबीजं नास्ति तस्य मोक्षमार्गश्रवणे पूर्वपक्षयुक्तिषु रुचिर्भवत्यरुचिश्च सिद्धान्तयुक्तिषु। तस्य कोऽहमासं कथमहमासमित्यादिरात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते। सा तु विशेषदर्शिनो निवर्तत इति। एवं सति किं स्यादिति तदाह—'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' (पा० द० १।२६) निम्नं जलप्रवहणयोग्यो नीचदेशः। प्राग्भारस्तदयोग्य उच्चप्रदेशः। चित्तं च सर्वदा प्रवर्तमानवृत्तिप्रवाहेण प्रवहज्जलतुल्यं, तत्प्रागात्मानात्माविवेकरूपविमार्गवाहिविषयभोगपर्यन्तमस्याऽऽसीत्। अधुना त्वात्मानात्मविवेकमार्गवाहिकैवल्यपर्यन्तं संपद्यत इति। अस्मिंश्च विवेकवाहिनि चित्ते येऽन्तरायास्ते सहेतुका निवर्तनीया इत्याह सूत्राभ्यां 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः', 'हानमेषां क्लेशदुक्तं' (पा० द० ४।२७-२८) तस्मिन्विवेकवाहिनि चित्ते छिद्रेष्वन्तरालेषु प्रत्ययान्तराणि व्युत्थानरूपाण्यहं ममेत्येवंरूपाणि व्युत्थानानुभवजेभ्यः संस्कारेभ्यः क्षीयमाणेभ्योऽपि प्रादुर्भवन्ति। एषां च संस्काराणां क्लेशानामिव हानमुक्तं, यथा क्लेशा अविद्यादयो

'विशेषदर्शिनः आत्मभावभावनानिवृत्तिः'—इस प्रकार जो अन्तःकरण और पुरुषका भेद देखनेवाला है उसकी पहले अविवेकके कारण जो अन्तःकरणमें आत्मभावना थी वह निवृत्त हो जाती है, क्योंकि उनके भेदका ज्ञान होनेपर उनको अभेदका भ्रम नहीं हो सकता।

(१) यह सत्त्व और पुरुषका जो भेदज्ञान है वह भगवदर्पित निष्काम कर्मसे सिद्ध हो सकता है। इसका लिंग योगभाष्यमें इस प्रकार दिखाया है—'जिस प्रकार वर्षा कालमें घासके अंकुर फूट आनेसे उनके बीजोंकी सत्ताका अनुमान किया जाता है उसी प्रकार मोक्षमार्गकी चर्चा सुननेपर सिद्धान्तमें रुचि होनेके कारण जिसे रोमाञ्च और अश्रुपात होते देखे जाते हैं उसमें भी कर्मोंसे उत्पन्न हुआ, मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला विशेषदर्शनका बीज विद्यमान है—ऐसा अनुमान किया जाता है। जिसमें ऐसा कर्मरूप बीज नहीं होता उसकी मोक्षमार्गका श्रवण करनेपर पूर्वपक्षकी युक्तियोंमें रुचि होती है तथा सिद्धान्त पक्षकी युक्तियोंमें अरुचि। उस विशेषदर्शनकी योग्यतावालेमें 'मैं कौन था ? किस प्रकार था ?' इत्यादि स्वाभाविकी आत्मभावभावना प्रवृत्त होती है। किन्तु विशेषदर्शीकी ऐसी भावना निवृत्त हो जाती है। ऐसा होनेपर क्या होता है, सो बतलाते हैं—'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्'—जलके प्रवाहयोग्य नीचे देशको 'निम्न' और प्रवाहके अयोग्य ऊँचे देशको 'प्राग्भार' कहते हैं। सर्वदा प्रवृत्त होते हुए वृत्तिप्रवाहके कारण चित्त बहते हुए जलके समान है। पहले यह विषयोंके भोगपर्यन्त आत्मा-अनात्माके अविवेकरूप विपरीत मार्गकी ओर बहनेवाला था। अब यह कैवल्यमोक्षपर्यन्त आत्मा-अनात्माके विवेकरूप मार्गमें बहनेवाला हो जाता है। इस विवेकवाही चित्तमें जो अन्तराय हैं उन्हें उनके कारणसहित निवृत्त करना चाहिये—यह बात इन दो सूत्रोंसे कहते हैं—'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' तथा 'हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।' अर्थात् उस विवेकवाही चित्तमें 'छिद्रेषु'—बीच-बीचमें क्षीण होते हुए भी व्युत्थानानुभवजनित संस्कारोंसे 'अहम्-मम' इस प्रकारके व्युत्थानरूप अन्यान्य प्रत्यय होते रहते हैं। इन संस्कारोंका

ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावा न पुनश्चित्तभूमौ प्ररोहं प्राप्नुवन्ति तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावाः संस्काराः प्रत्ययान्तराणि न प्ररोढुमर्हन्ति । ज्ञानाग्निसंस्कारास्तु यावच्चित्तमनुशेरत इति । एवं च प्रत्ययान्तरानुदयेन विवेकवाहिनि चित्ते स्थिरीभूते सति 'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः' (पा० द० ४।२९) प्रसंख्यानं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः शुद्धात्मज्ञानमिति यावत् । तत्र बुद्धेः सात्त्विके परिणामे कृतसंयमस्य सर्वेषां गुणपरिणामानां स्वामिवदाक्रमणं सर्वाधिष्ठातृत्वं तेषामेव च शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेन स्थितानां यथावद्विवेकज्ञानं सर्वज्ञातृत्वं च विशोका नाम सिद्धिः फलं तद्वैराग्याच्च कैवल्यमुक्तं 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च' (पा० द० ३।४९) 'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (पा० द० ३।५५) इति सूत्राभ्यां, तदेतदुच्यते तस्मिन्प्रसंख्याने सत्यप्यकुसीदस्य फलमलिप्सोः प्रत्ययान्तराणामनुदये सर्वप्रकारैर्विवेकख्यातेः परिपोषाद्धर्ममेघः समाधिर्भवति ।

'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम् ॥' इति स्मृतेः ।

धर्मं प्रत्यग्ब्रह्मैक्यसाक्षात्कारं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघस्तत्त्वसाक्षात्कारहेतुरित्यर्थः । 'ततः

हान क्लेशोंके हानके समान कहा है । जिस प्रकार अविद्यादि क्लेश ज्ञानाग्निसे दग्धबीजभाव होनेपर चित्तरूप भूमिमें फिर अंकुरित नहीं हो सकते उसी प्रकार ज्ञानाग्निसे जिनके बीजभावका दाह हो गया है वे संस्कार अन्य प्रत्ययोंको उत्पन्न नहीं कर सकते । ज्ञानाग्निके संस्कार तो चित्तकी स्थितिपर्यन्त उसमें रहते ही हैं । इस प्रकार अन्य प्रत्ययोंका उदय न होनेसे विवेकवाही चित्तके स्थिर हो जानेपर 'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः'—चित्त और पुरुषके पार्थक्यज्ञान अर्थात् शुद्ध आत्मज्ञानका नाम प्रसंख्यान है । बुद्धिके उस सात्त्विक परिणाममें संयम करनेवाले योगीको स्वामीके समान समस्त गुणपरिणामोंका पराभव और सबका साक्षित्व प्राप्त होता है । शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मीरूपसे स्थित उन गुणोंका यथावत् विवेकज्ञान और सर्वज्ञातृत्व ही विशोका नामकी सिद्धि है । उसमें वैराग्य होनेसे 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च' तथा 'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' इन दो सूत्रोंद्वारा कैवल्यमोक्ष फल बताया है । इसीसे यह कहा गया है—उस प्रसंख्यानके होनेपर भी जो अकुसीद—उसके फलकी इच्छावाला नहीं है उसे दूसरे प्रत्ययोंका उदय न होनेपर सब प्रकार विवेकख्यातिकी पुष्टि हो जानेसे धर्ममेघसमाधि प्राप्त होती है । 'यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय और कर्म इन सबकी अपेक्षा योगके द्वारा आत्माका साक्षात्कार करना ही श्रेष्ठ धर्म है' इस स्मृतिके अनुसार जो प्रत्यगात्मा और ब्रह्मकी एकतारूप धर्मका मेहन—सिंचन करती है वह धर्ममेघसमाधि तत्त्वसाक्षात्कारका कारण है—ऐसा इसका तात्पर्य है । 'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' उस धर्ममेघसमाधि या धर्मसे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पाँच क्लेशोंकी तथा कृष्ण, शुक्लकृष्ण और शुक्ल भेदसे तीन प्रकारके[1] अविद्यामूलक कर्मोंकी—अविद्याके क्षयसे उनके बीजका क्षय हो जानेके कारण—

१. योगदर्शनमें कृष्ण, शुक्लकृष्ण और शुक्ल भेदसे तीन प्रकार के कर्म बताये हैं । दुरात्मा पुरुषोंके पापमय कर्मकलाप 'कृष्ण' कर्म हैं । इनका परिणाम दुःख ही होता है । बाह्य साधनसाध्य-कामनामूलक कर्म 'शुक्लकृष्ण' कहे जाते हैं तथा धर्मात्मा पुरुषोंके शास्त्रोक्त कर्म 'शुक्ल' कहलाते हैं । किन्तु योगीके कर्म 'अशुक्लाकृष्ण' होते हैं । वे पाप-पुण्यसे रहित होनेके कारण सुख-दुःख दोनों प्रकारके परिणामसे रहित होते हैं ।

क्लेशकर्मनिवृत्तिः' ततो धर्ममेघात्समाधेर्धर्माद्वा क्लेशानां पञ्चविधानामविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशानां कर्मणां च कृष्णशुक्लकृष्णशुक्लभेदेन त्रिविधानामविद्यामूलानामविद्याक्षये बीजक्षयादात्यन्तिकी निवृत्तिः कैवल्यं भवति । कारणनिवृत्त्या कार्यनिवृत्तेरात्यन्तिक्या उचितत्वादित्यर्थः ।

(१) एवं स्थिते 'युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानम्' इत्यनेन संप्रज्ञातः समाधिरेकाग्रभूमावुक्तः । नियतमानस इत्यनेन तत्फलभूतोऽसंप्रज्ञातसमाधिर्निरोधभूमावुक्तः । शान्तिमिति निरोधसमाधिजसंस्कारफलभूता प्रशान्तवाहिता । निर्वाणपरमामिति धर्ममेघस्य समाधेस्तत्त्वज्ञानद्वारा कैवल्यहेतुत्वं, मत्संस्थामित्यनेनौपनिषदाभिमतं कैवल्यं दर्शितम् । यस्मादेवं महाफलो योगस्तस्मात्तं महता प्रयत्नेन संपादयेदित्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

(२) एवं योगाभ्यासनिष्ठस्याऽऽहारादिनियममाह द्वाभ्याम्—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

(३) यद्धुक्तं सज्जीर्यति शरीरस्य च कार्यक्षमतां संपादयति तदात्मसंमितमन्नं तदतिक्रम्य लोभेनाधिकमश्नतो न योगोऽस्ति अजीर्णदोषेण व्याधिपीडितत्वात् । न चैकान्तमनश्नतो योगोऽस्ति अनाहारादल्पाहाराद्वा रसपोषणाभावेन शरीरस्य कार्याक्षमत्वात् 'यद्ध वा आत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति' इति शतपथश्रुतेः । तस्माद्योगी नाऽऽत्मसंमितादन्नादधिकं न्यूनं वाऽश्नीयादित्यर्थः ।

आत्यन्तिकी निवृत्ति अर्थात् कैवल्यमुक्ति हो जाती है, क्योंकि कारणकी निवृत्तिसे कार्यकी आत्यन्तिकी निवृत्ति होनी उचित ही है—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

(१) ऐसा निश्चय होनेसे जान पड़ता है कि 'युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानम्' इस वाक्यसे एकाग्रभूमिमें सम्प्रज्ञात समाधि कही गयी है, 'नियतमानसः' इससे निरोधभूमिमें उसकी फलभूता असम्प्रज्ञात समाधि कही गयी है, 'शान्तिम्' इससे निरोधसमाधिजनित संस्कारोंकी फलभूता प्रशान्तवाहिता कही है, 'निर्वाणपरमाम्' इससे तत्त्वज्ञानके द्वारा धर्ममेघसमाधिकी कैवल्यमोक्षमें हेतुता बतायी गयी है तथा 'मत्संस्थाम्' इससे उपनिषदोंको अभिमत कैवल्यमोक्ष प्रदर्शित किया है । क्योंकि इस प्रकार योगका महान् फल है इसलिये अभिप्राय यह है कि महान् प्रयत्नके साथ उसका सम्पादन करना चहिये ॥१५॥

(२) अब दो श्लोकोंसे इस प्रकार योगाभ्यासमें स्थित पुरुषके लिये आहारादिका नियम बताते हैं—

[श्लोकार्थः—अर्जुन ! अधिक भोजन करनेवाले पुरुषसे योग नहीं हो सकता और न बिलकुल न खानेवालेसे ही हो सकता है । इसी प्रकार बहुत सोनेवाले या अधिक जागनेवाले पुरुषसे भी योग नहीं हो सकता ॥ १६ ॥]

(३) जो खानेपर पच जाता है और शरीरमें कार्य करनेका सामर्थ्य उत्पन्न करता है वह अन्न अपने योग्य होता है, उसका उल्लङ्घन करके लोभसे अधिक भोजन करनेवाले पुरुषको योग प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो अजीर्णरूप दोषके कारण व्याधियोंसे पीडित रहता है । न सर्वथा न खानेवालेसे ही योग हो सकता है, क्योंकि न खाने अथवा बहुत कम खानेसे रसकी पुष्टि न होनेके कारण शरीर काम करनेमें समर्थ नहीं रहता । 'जो अन्न अपने लिये पूर्ण होता है वही रक्षा करता है, वह मारता नहीं है, जो अधिक होता है वह मारता है और जो कम होता है वह रक्षा नहीं कर सकता' इस शतपथश्रुतिसे

(१) अथवा—

'पूरयेदशनेनार्धं तृतीयमुदकेन तु । वायोः संचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥'

इत्यादियोगशास्त्रोक्तपरिमाणादधिकं न्यूनं वाऽश्नतो योगो न संपद्यत इत्यर्थः । तथाऽतिनिद्राशीलस्यातिजाग्रतश्च योगो नैवास्ति हेऽर्जुन सावधानो भवेत्यभिप्रायः । एकश्चकार उक्ताहारातिक्रमसमुच्चयार्थः । अपरोऽत्रानुक्तदोषसमुच्चयार्थः । यथा मार्कण्डेयपुराणे—

'नाऽऽध्मातः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुलचेतनः ।
युञ्जीत योगं राजेन्द्र योगी सिद्ध्यर्थमात्मनः ॥
नातिशीते न चैवोष्णे न द्वंद्वे नानिलान्विते ।
कालेष्वेतेषु युञ्जीत न योगं ध्यानतत्परः ॥' इत्यादि ॥ १६ ॥

(२) एवमाहारादिनियमविरहिणो योगव्यतिरेकमुक्त्वा तन्नियमवतो योगान्वयमाह—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

(३) आह्रियत इत्याहारोऽन्नं विहरणं विहारः पादक्रमः, तौ युक्तौ नियतपरिमाणौ यस्य, तथाऽन्येष्वपि प्रणवजपोपनिषदावर्तनादिषु कर्मसु युक्ता नियतकाला चेष्टा यस्य, तथा स्वप्नो निद्रा, भी यही बात प्रमाणित होती है । अतः तात्पर्य यह है कि योगीको अपनी आवश्यकताकी पूर्ति करनेवाले अन्नसे अधिक या न्यून नहीं खाना चाहिये ।

(१) अथवा 'उदरके आधे भागको अन्नसे पूर्ण करे, तीसरे चौथाईको जलसे भरे और चौथे भागको वायुके संचारके लिये खाली रखे' इस योगशास्त्रोक्त परिमाणसे अधिक या न्यून भोजन करनेवालेसे योग नहीं हो सकता—ऐसा इसका तात्पर्य है । तथा न अधिक निद्राशील और न अधिक जागनेवालेसे ही योग हो सकता है । हे अर्जुन ! तुम सावधान रहो ऐसा इसका अभिप्राय है । उत्तरार्धमें एक चकार पूर्वोक्त आहारके अतिक्रमसे इसका समुच्चय करनेके लिये है तथा दूसरा यहाँ न बताये हुए दोषोंके समुच्चयके लिये है; जैसा कि मार्कण्डेयपुराणमें कहा है—'हे राजेन्द्र ! योगीको आत्माकी सिद्धिके लिये बहुत भोजन करके, क्षुधित अवस्थामें, थके होनेपर तथा व्याकुलचित्त होनेपर योग नहीं करना चाहिये । इसी प्रकार ध्याननिष्ठ योगीको अत्यन्त शीत, अत्यन्त उष्ण, इन दोनोंसे युक्त अथवा अत्यन्त वायु चलनेके समय भी योगका अभ्यास नहीं करना चाहिये' इत्यादि ॥ १६ ॥

(२) इस प्रकार आहारादिके नियमोंसे रहित योगीको योगका अभाव बताकर अब उन नियमोंवाले योगीको उसकी प्राप्ति बताते हैं—

[श्लोकार्थः—नियमित आहार-विहारवाले, कर्मोंमें नियमित चेष्टावाले तथा नियमानुसार सोने और जागनेवाले पुरुषको दुःखकी निवृत्ति करनेवाला योग सिद्ध होता है ॥ १७ ॥]

(३) जिसका आहरण (ग्रहण) किया जाय वह आहार अर्थात् अन्न और विहार—विहरण यानी पादविक्षेप ये दोनों जिसके युक्त—नियत परिमाणमें हैं तथा प्रणवजप और उपनिषत्पाठ आदि अन्य कर्मोंमें भी जिसकी चेष्टा युक्त अर्थात् नियत समयसे होती है, इसी प्रकार जिसके स्वप्न—निद्रा और अवबोध—जागरण ये दोनों

अवबोधो जागरणं तौ युक्तौ नियतकालौ यस्य तस्य योगो भवति साधनपाटवात्समाधिः सिध्यति नान्यस्य । एवं प्रयत्नविशेषेण संपादितो योगः किंफल इति तत्राऽऽह—दुःखहेति । सर्वसंसारदुःखकारणाविद्योन्मूलनहेतुब्रह्मविद्योत्पादकत्वात्समूलसर्वदुःखनिवृत्तिहेतुरित्यर्थः । अत्राऽऽहारस्य नियतत्वम्—

'अर्धमशनस्य सव्यञ्जनस्य तृतीयमुदकस्य तु ।
वायोः संचारणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥'

इत्यादि प्रागुक्तम् । विहारस्य नियतत्वं योजनान्न परं गच्छेदित्यादि । कर्मसु चेष्टाया नियतत्वं वागादिचापलपरित्यागः । रात्रेर्विभागत्रयं कृत्वा प्रथमान्त्ययोर्जागरणं मध्ये स्वपनमिति स्वभावबोधयोर्नियतकालत्वम् । एवमन्येऽपि योगशास्त्रोक्ता नियमा द्रष्टव्याः ॥ १७ ॥

(१) एवमेकाग्रभूमौ संप्रज्ञातं समाधिमभिधाय निरोधभूमावसंप्रज्ञातं समाधिं वक्तुमुपक्रमते—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

(२) यदा यस्मिन्काले परवैराग्यवशाद्विनियतं विशेषेण नियतं सर्ववृत्तिशून्यतामापादितं चित्तं विगतरजस्तमस्कमन्तःकरणसत्त्वं स्वच्छत्वात्सर्वविषयाकारग्रहणसमर्थमपि सर्वतोनिरुद्धवृत्तिकत्वादात्मन्येव प्रत्यक्चिति अनात्मानुपरक्ते वृत्तिराहित्येऽपि स्वतःसिद्धस्याऽऽत्माकारस्य चारयितुमशक्य-

युक्त—नियत समयसे होते हैं उसे योग प्राप्त हो सकता है अर्थात् साधनकी कुशलतासे समाधि सिद्ध हो सकती है, किसी औरको नहीं । इस प्रकार प्रयत्नविशेषसे सम्पादन किया हुआ योग किसफलवाला है ? इसपर कहते हैं—'दुःखहा' अर्थात् सम्पूर्ण संसार-दुःखकी कारणभूता अविद्याकी निवृत्तिकी हेतुभूता जो ब्रह्मविद्या है उसको उत्पन्न करनेवाला होनेसे वह मूलसहित सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्तिका कारण है । यहाँ आहारकी नियतता तो 'पेटका आधा भाग शाक-भाजीसहित अन्नसे और तीसरा भाग जलसे भरे तथा चौथा भाग वायुके आने-जानेके लिये खाली रखे' इत्यादि वाक्योंसे पहले कही जा चुकी है; विहारकी नियतता 'एक योजनसे अधिक न चले' इस प्रकार समझनी चाहिये । वाणी आदिकी चञ्चलताका त्याग—यह कर्मोंमें चेष्टाका नियत करना है तथा निद्रा और जागरणकी नियतकालता यह है कि रात्रिके तीन भाग करके प्रथम और अन्तिममें जागे तथा मध्य भागमें शयन करे । इसी प्रकार योगशास्त्रद्वारा बताये हुए दूसरे नियम भी समझने चाहिये ॥ १७ ॥

(१) इस प्रकार एकाग्रभूमिमें सम्प्रज्ञात समाधिका वर्णन कर अब निरोधभूमिमें असम्प्रज्ञात समाधिका निरूपण करना आरम्भ करते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस समय सब ओरसे रोका हुआ चित्त आत्मामें ही स्थित हो जाता है उस समय समस्त विषयोंकी इच्छासे निवृत्त हुआ पुरुष युक्त (समाहित) कहा जाता है ॥ १८ ॥]

(२) जिस समय परवैराग्यके द्वारा विनियत—विशेषरूपसे नियत—समस्त वृत्तियोंकी शून्यताको प्राप्त कराया हुआ चित्त अर्थात् रजोगुण-तमोगुणसे रहित अन्तःकरणका सत्त्वगुण स्वच्छ होनेके कारण समस्त विषयोंका आकार ग्रहण करनेमें समर्थ होनेपर भी सब ओरसे वृत्तियोंका निरोध हो जानेके कारण आत्मा अर्थात् प्रत्यक्चेतनमें

त्वाच्चितेरेव प्राधान्यान्न्यभूतं सदवतिष्ठते निश्चलं भवति, तदा तस्मिन्सर्ववृत्तिनिरोधकाले युक्तः समाहित इत्युच्यते । कः, यः सर्वकामेभ्यो निःस्पृहः, निर्गता दोषदर्शनेन सर्वेभ्यो दृष्टादृष्टविषयेभ्यः कामेभ्यः स्पृहा तृष्णा यस्येति परं वैराग्यमसंप्रज्ञातसमाधेरन्तरङ्गं साधनमुक्तम् । तथा च व्याख्यातं प्राक् ॥ १८ ॥

(१) समाधौ निर्वृत्तिकस्य चित्तस्योपमानमाह—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

(२) दीपचलनहेतुना वातेन रहिते देशे स्थितो दीपो यथा चलनहेत्वभावान्नेङ्गते न चलति सोपमा स्मृता स दृष्टान्तश्चिन्तितो योगज्ञैः । कस्य, योगिन एकाग्रभूमौ संप्रज्ञातसमाधिमतोऽभ्यासपाटवाद्यतचित्तस्य निरुद्धसर्वचित्तवृत्तेरसंप्रज्ञातसमाधिरूपं योगं निरोधभूमौ युञ्जतोऽनुतिष्ठतो य आत्माऽन्तःकरणं तस्य निश्चलतया सत्त्वोद्रेकेण प्रकाशकतया च निश्चलो दीपो दृष्टान्त इत्यर्थः ।

(३) आत्मनो योगं युञ्जत इति व्याख्याने दार्ष्टान्तिकालाभः सर्वावस्थस्यापि चित्तस्य सर्वदाऽऽत्माकारतयाऽऽत्मपदवैयर्थ्यं च । न हि योगेनाऽऽत्माकारता चित्तस्य संपाद्यते, किं तु स्वत एवाऽऽत्माकारस्य सतोऽनात्माकारता निवर्त्यत इति । तस्माद्दार्ष्टान्तिकप्रतिपादनार्थमेवाऽऽत्मपदम् । यतचित्तस्येति भावपरो निर्देशः कर्मधारयो वा यतस्य चित्तस्येत्यर्थः ॥ १९ ॥

ही, अनात्मसम्बन्धी वृत्तियोंका अभाव होनेपर भी उनका स्वतः सिद्ध आत्माके आकार होना रोका न जानेसे तथा चेतनकी ही प्रधानता होनेसे अभावको प्राप्त हुआ चित्त जब स्थित अर्थात् निश्चल हो जाता है तो उस समय वृत्तियोंके निरोधकालमें यह युक्त—समाहित कहा जाता है। कौन कहा जाता है ? जो सब विषयोंसे निःस्पृह है अर्थात् जिसकी दोषदर्शनके कारण दृष्ट और अदृष्ट सभी विषयोंसे स्पृहा—तृष्णा निकल गयी है—इस प्रकार असम्प्रज्ञात समाधिका साधनरूप परवैराग्य कहा गया है। ऐसी ही पहले व्याख्या भी की गयी है ॥ १८ ॥

(१) समाधिमें वृत्तिशून्य हुए चित्तकी उपमा कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस प्रकार वायुहीन स्थानमें रखा हुआ दीपक चञ्चल नहीं होता, योगवेत्ताओंने निरोधभूमिमें योगका अभ्यास करनेवाले निरुद्धचित्त योगीके अन्तःकरणकी वही उपमा बतायी है ॥ १९ ॥]

(२) दीपककी चञ्चलताके हेतुभूत वायुसे रहित देशमें रखा हुआ दीपक जैसे चञ्चलताका कारण न रहनेसे चलायमान नहीं होता, योगवेत्ताओंने वही उपमा कही है अर्थात् वही दृष्टान्त माना है। किसका ?—योगीका—एकाग्रभूमिमें सम्प्रज्ञातसमाधिवालेका, जिसने अभ्यासके बलसे चित्तका निरोध कर लिया है तथा जो निरोधभूमिमें असम्प्रज्ञातसमाधिरूप योगका अभ्यास कर रहा है उस सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेवाले योगीका जो आत्मा—अन्तःकरण है, निश्चल और सत्त्वगुणकी अधिकताके कारण सबका प्रकाशक होनेसे यह निश्चल दीपक उसमें दृष्टान्त है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

(३) यदि 'आत्माका योग करनेवाले'—ऐसी इसकी व्याख्या करें तो कोई दार्ष्टान्तिक नहीं मिल सकता, क्योंकि सभी अवस्थाओंवाला चित्त सर्वदा आत्माकार ही रहनेके कारण 'आत्मा' पद व्यर्थ ही हो जाता है। चित्तकी आत्माकारता योगसे सम्पादन नहीं की जाती, किन्तु स्वतः आत्माकार रहते हुए ही उसकी अनात्माकारता निवृत्त की जाती

(१) एवं सामान्येन समाधिमुक्त्वा निरोधसमाधिं विस्तरेण विवरीतुमारभते—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

(२) यत्र यस्मिन्परिणामविशेषे योगसेवया योगाभ्यासपाटवेन जाते सति चित्तं निरुद्धमेकविषयकवृत्तिप्रवाहरूपामेकाग्रतां त्यक्त्वा निरिन्धनाग्निवदुपशाम्यन्निर्वृत्तिकतया सर्ववृत्तिनिरोधरूपेण परिणतं भवति । यत्र च यस्मिंश्च परिणामे सति आत्मना रजस्तमोऽनभिभूतशुद्धसत्त्वमात्रेणान्तःकरणेनाऽऽत्मानं प्रत्यक्चैतन्यं परमात्माभिन्नं सच्चिदानन्दघनमनन्तमद्वितीयं पश्यन्वेदान्तप्रमाणजन्यया वृत्त्या साक्षात्कुर्वन्नात्मन्येव परमानन्दघने तुष्यति, न देहेन्द्रियसंघाते न वा तद्बाह्येऽन्यत्र । परमात्मदर्शने सत्यतुष्टिहेत्वभावात्तुष्यत्येवेति वा । तमन्तःकरणपरिणामं सर्ववृत्तिनिरोधरूपं योगं विद्यादिति परेणान्वयः । यत्र काल इति तु व्याख्यानमसाधु तच्छब्दानन्वयात् ॥ २० ॥

(३) आत्मन्येव तोषे हेतुमाह—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

है। अतः 'आत्मनः' यह पद दार्ष्टान्तिकका प्रतिपादन करनेके लिये ही है। 'यतचित्तस्य' यह भावपरक निर्देश अथवा 'यतस्य चित्तस्य' (रोके हुए चित्तका) इस प्रकार कर्मधारय समास है ॥ १९ ॥

(१) इस प्रकार सामान्यरूपसे समाधिका वर्णन कर निरोधसमाधिका विस्तारसे विवरण करना आरम्भ करते हैं—

[श्लोकार्थः—योगाभ्यासके सामर्थ्यसे रोका हुआ चित्त जहाँ उपरत हो जाता है और जहाँ रजोगुण-तमोगुणसे रहित सत्त्वमात्र अन्तःकरणसे आत्माको परमात्मासे अभिन्न देखकर योगी आत्मामें ही सन्तुष्ट हो जाता है ॥ २० ॥]

(२) योगके सेवनसे अर्थात् योगाभ्यासके सामर्थ्यसे जहाँ—जिस परिणामविशेषके होनेपर चित्त निरुद्ध होकर एक विषयसम्बन्धिनी वृत्तियोंके प्रवाहरूप एकाग्रताको त्यागकर काष्ठहीन अग्निके समान शान्त होता हुआ वृत्तिशून्य होकर समस्त वृत्तियोंके निरोधरूपमें परिणत हो जाता है तथा जहाँ—जिस परिणामके होनेपर आत्मासे अर्थात् रज-तमसे न दबे हुए शुद्ध सत्त्वमात्र अन्तःकरणसे आत्माको—प्रत्यक्चैतन्यको परमात्मासे अभिन्न सच्चिदानन्दघन अनन्त और अद्वितीयरूपसे देखते हुए—वेदान्तप्रमाणजनित वृत्तिसे साक्षात्कार करते हुए परमानन्दघन आत्मामें ही सन्तुष्ट हो जाता है—देहेन्द्रियसंघात अथवा उसके योग्य किसी अन्य पदार्थमें नहीं; अथवा परमात्माका दर्शन होनेपर असन्तोषका कोई कारण न रहनेसे जो सन्तुष्ट हो ही जाता है उस अन्तःकरणके परिणाम सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगको जाने—इस प्रकार इसका अगले (तेईसवें) श्लोकके साथ अन्वय है। 'यत्र' की 'जिस समय' ऐसी व्याख्या करनी ठीक नहीं है, क्योंकि इसका (तेईसवें श्लोकके) 'तत्' शब्दसे अन्वय नहीं हो सकता ॥ २० ॥

(३) आत्मामें ही सन्तोषका हेतु बताते हैं—

[श्लोकार्थः—जो सुख निरतिशय, सात्त्विकी बुद्धिसे ग्राह्य और अतीन्द्रिय है

(१) यत्र यस्मिन्नवस्थाविशेष आत्यन्तिकमनन्तं निरतिशयं ब्रह्मस्वरूपमतीन्द्रियं विषयेन्द्रियसंप्रयोगानभिव्यङ्ग्यं बुद्धिग्राह्यं बुद्धयैव रजस्तमोमलरहितया सत्त्वमात्रवाहिन्या ग्राह्यं सुखं योगी वेत्ति अनुभवति । यत्र च स्थितोऽयं विद्वांस्तत्त्वत आत्मस्वरूपान्नैव चलति । तं योगसंज्ञितं विद्यादिति परेणान्वयः समानः ।

(२) अत्राऽऽत्यन्तिकमिति ब्रह्मसुखस्वरूपकथनम् । अतीन्द्रियमिति विषयसुखव्यावृत्तिः, तस्य विषयेन्द्रियसंयोगसापेक्षत्वात् । बुद्धिग्राह्यमिति सौषुप्तसुखव्यावृत्तिः सुषुप्तौ बुद्धेर्लीनत्वात्, समाधौ निर्वृत्तिकायास्तस्याः सत्त्वात् । तदुक्तं गौडपादैः—'लीयते तु सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते' इति । तथा च श्रूयते—

'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्याऽऽत्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा यदेतदन्तःकरणेन गृह्यते ॥' इति ।

अन्तःकरणेन निरुद्धसर्ववृत्तिकेनेत्यर्थः । वृत्त्या तु सुखास्वादनं गौडाचार्यैस्तत्र प्रतिषिद्धम्—'नाऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्' इति । महदिदं समाधौ सुखमनुभवामीति सविकल्पवृत्तिरूपा प्रज्ञा सुखास्वादः । तं व्युत्थानरूपत्वेन समाधिविरोधित्वाद्योगी न कुर्यात् । अत एवैतादृश्या प्रज्ञया सह सङ्गं परित्यजेत्तां निरुन्ध्यादित्यर्थः । निर्वृत्तिकेन तु चित्तेन स्वरूपसुखानुभवस्तैः प्रतिपादितः—'स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्' इति स्पष्टं चैतदुपरिष्टात्करिष्यते ॥ २१ ॥

उसे जिस अवस्थामें योगी अनुभव करता है तथा जिस अवस्थामें स्थित होनेपर यह आत्मस्वरूपसे चलायमान नहीं होता ॥ २१ ॥]

(१) जहाँ अर्थात् जिस अवस्थाविशेषमें आत्यन्तिक—निरतिशय—ब्रह्मस्वरूप, अतीन्द्रिय—विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे अभिव्यक्त न होनेवाला और बुद्धिग्राह्य—रजतमसे रहित सत्त्वमात्रको धारण करनेवाली बुद्धिसे ग्राह्य सुखको योगी अनुभव करता है तथा जहाँ स्थित हुआ विद्वान् तत्त्वसे—आत्मस्वरूपसे विचलित नहीं होता उसे योगसंज्ञक माने इत्यादि आगेके (तेईसवें) श्लोकसे इसका भी पूर्ववत् अन्वय है ।

(२) यहाँ 'आत्यन्तिकम्' इस विशेषणसे ब्रह्मसुखके स्वरूपका वर्णन किया गया है; 'अतीन्द्रियम्' इससे विषयसुखकी व्यावृत्ति की गयी है, क्योंकि वह विषय और इन्द्रियके संयोगकी अपेक्षावाला है । तथा 'बुद्धिग्राह्यम्' इस पदसे सुषुप्तिके सुखकी व्यावृत्ति की गयी है, क्योंकि सुषुप्तिमें बुद्धि लीन हो जाती है तथा समाधिमें वह वृत्तिशून्य होकर रहती है । श्रीगौडपादाचार्यने भी कहा है—'सुषुप्तिमें तो उसका लय हो जाता है किन्तु निरोध करनेपर लय नहीं होता' तथा श्रुति भी कहती है—'समाधिद्वारा जिसके मलका मार्जन हो गया है उस चित्तके आत्मामें संलग्न होनेपर जो सुख होता है उसका वाणीसे वर्णन नहीं किया जा सकता, उस समय स्वयं अन्तःकरणसे ही उसका ग्रहण किया जाता है ।' अन्तःकरणसे अर्थात् जिसकी समस्त वृत्तियोंका निरोध कर लिया गया है उस अन्तःकरणसे । उस अवस्थामें वृत्तिके द्वारा सुखका आस्वादन करनेका तो गौडपादाचार्यजीने निषेध किया है—'उस स्थितिमें सुखका आस्वादन न करे, बुद्धिपूर्वक उससे निःसंग रहे ।' 'मैं समाधिमें यह महान् सुखका अनुभव कर रहा हूँ' इस प्रकारकी जो सविकल्पवृत्तिरूपा प्रज्ञा है वह सुखका आस्वादन है । व्युत्थानरूप होनेसे समाधिकी विरोधी होनेके कारण योगी ऐसी बुद्धि न करे । अतः ऐसी प्रज्ञाके साथ संगका परित्याग करे अर्थात् उसका निरोध करे । उन्हीं श्रीगौड-

(१) यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वत इत्युक्तमुपपादयति—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥ २२ ॥

(२) यं च निरतिशयात्मकसुखव्यञ्जकं निर्वृत्तिकचित्तावस्थाविशेषं लब्ध्वा संतताभ्यासपरिपाकेन संपाद्यापरं लाभं ततोऽधिकं न मन्यते । 'कृतं कृत्यं प्राप्तं प्रापणीयमित्यात्मलाभान्न परं विद्यते' इति स्मृतेः । एवं विषयभोगवासनया समाधेर्विचलनं नास्तीत्युक्त्वा शीतवातमशकाद्युपद्रवनिवारणार्थमपि तन्नास्तीत्याह—यस्मिन्परमात्मसुखमये निर्वृत्तिकचित्तावस्थाविशेषे स्थितो योगी गुरुणा महता शस्त्रनिपातादिनिमित्तेन महताऽपि दुःखेन न विचाल्यते किमुत क्षुद्रेणेत्यर्थः ॥ २२ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

(३) यत्रोपरमत इत्यारभ्य बहुभिर्विशेषणैर्यो निर्वृत्तिकः परमानन्दाभिव्यञ्जकश्चित्तावस्थाविशेष उक्तस्तं चित्तवृत्तिनिरोधं चित्तवृत्तिमयसर्वदुःखविरोधित्वेन दुःखवियोगमेव सन्तं योगसंज्ञितं

पादाचार्यने वृत्तिशून्य चित्तसे स्वरूपसुखके अनुभवका प्रतिपादन किया है—'वह वृत्तियोंके निरोधसे होनेवाला सुख आत्मनिष्ठ, शान्त, अकथनीय और उत्तम होता है ।' इसका आगे विशेष स्पष्टीकरण किया जायगा ॥ २१ ॥

(१) ऊपरके श्लोकमें जो कहा है कि 'जिस अवस्थामें स्थित होनेपर यह आत्मस्वरूपसे विचलित नहीं होता, उसे सिद्ध करते हैं—

[श्लोकार्थः—तथा जिस अवस्थाको पाकर योगी उससे बढ़कर कोई दूसरा लाभ नहीं समझता और जिसमें स्थित होनेपर वह भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता ॥ २२ ॥]

(२) जिस निरतिशयरूप सुखको अभिव्यक्त करनेवाली वृत्तिशून्य चित्तकी अवस्थाविशेषको प्राप्त करके—निरन्तर अभ्यासके परिपाकसे सम्पादित करके उससे बढ़कर कोई दूसरा लाभ नहीं मानता; जैसा कि 'जो करना था वह कर लिया और जो पाना था वह पा लिया इस प्रकार आत्मलाभसे बढ़कर कुछ भी नहीं है' इस स्मृतिसे सिद्ध होता है । इस प्रकार विषयभोगकी वासनासे समाधिसे विचलित होना नहीं होता—यह कहकर अब 'यस्मिन्' इत्यादिसे यह बतलाते हैं कि शीत वायु और मच्छर आदि उपद्रवोंकी निवृत्तिके लिये भी समाधिसे डिगना नहीं होता । जिस परमात्मसुखमयी वृत्तिशून्य चित्तकी अवस्थाविशेषमें स्थित हुआ योगी गुरु—महान् अर्थात् शस्त्रपातादिके कारण होनेवाले महान् दुःखसे भी विचलित नहीं होता, फिर क्षुद्रसे विचलित नहीं होता—इसमें तो कहना ही क्या है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ २२ ॥

[श्लोकार्थः—दुःखसंयोगकी वियोगरूपा उस अवस्थाको 'योग' नामसे जानना चाहिये । उस योगका निश्चयपूर्वक अव्यग्रचित्तसे अभ्यास करना चाहिये ॥ २३ ॥]

(३) 'यत्रोपरमते' इत्यादि श्लोकसे आरम्भ करके अनेकों विशेषणोंसे जो परमानन्दको अभिव्यक्त करनेवाली चित्तकी वृत्तिशून्य अवस्थाविशेष कही है चित्तवृत्तिमय सम्पूर्ण दुःखोंके विरोधीरूपसे दुःखवियोगके समान होनेवाले उस चित्तवृत्तियोंके निषेधको

वियोगशब्दार्हमपि विरोधिलक्षणया योगशब्दवाच्यं विद्याज्ञानीयान्न तु योगशब्दानुरोधात्कंचित्संबन्धं प्रतिपद्येतेत्यर्थः। तथा च भगवान्पतञ्जलिरसूत्रयत् 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति। 'योगो भवति दुःखहा' इति यत्प्रागुक्तं तदेतदुपसंहृतम्।

(१) एवंभूते योगे निश्चयानिर्वेदयोः साधनत्वविधानायाऽऽह—स निश्चयेन इति। स यथोक्तफलो योगो निश्चयेन शास्त्राचार्यवचनतात्पर्यविषयोऽर्थः सत्य एवेत्यध्यवसायेन योक्तव्योऽभ्यसनीयः। अनिर्विण्णचेतसा, एतावताऽपि कालेन योगो न सिद्धः किमतः परं कष्टमित्यनुतापो निर्वेदस्तद्रहितेन चेतसा, इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सेत्स्यति किं त्वरयेत्येवं धैर्ययुक्तेन मनसेत्यर्थः। तदेतद्गौडपादा उदाजहुः—

'उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना। मनसो निग्रहस्तद्वन्नवेदपरिखेदतः॥' इति।

उत्सेक उत्सेचनं शोषणाध्यवसायेन जलोद्धरणमिति यावत्। अत्र संप्रदायविद आख्यायिकामाचक्षते—कस्यचित्किल पक्षिणोऽण्डानि तीरस्थानि तरङ्गवेगेन समुद्रोऽपजहार। स च समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति प्रवृत्तः स्वमुखाग्रेणैकैकं जलबिन्दुमुपरि प्रचिक्षेप। तदा च बहुभिः पक्षिभिर्बन्धुवर्गैर्वार्यमाणोऽपि नैवोपरराम। यदृच्छया च तत्राऽऽगतेन नारदेन निवारितोऽप्यस्मिञ्जन्मनि जन्मान्तरे वा येन केनाप्युपायेन समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति प्रतिज्ञे। ततश्च दैवानुकूल्या-

---

योगसंज्ञित अर्थात् 'वियोग' शब्दके योग्य होनेपर भी विरोधी लक्षणासे 'योग' शब्दवाच्य जानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि 'योग' शब्दके अनुरोधसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार भगवान् पतञ्जलिने भी सूत्रद्वारा कहा है—'चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको योग कहते हैं।' पहले (१७वें श्लोकमें) जो 'योगो भवति दुःखहा' ऐसा कहा था उसका यह उपसंहार कर दिया गया।

(१) इस प्रकारके योगमें निश्चय और अनिर्विण्णताकी साधनताका विधान करनेके लिये कहते हैं—'स निश्चयेन' इत्यादि। उस उपर्युक्त फलवाले योगका निश्चयपूर्वक—शास्त्र और आचार्यके वचनके तात्पर्यका विषयरूप अर्थ सत्य ही है—ऐसे निश्चयपूर्वक युञ्जन—अभ्यास करना चाहिये। तथा अनिर्विण्णचित्तसे—'इतना समय हो जानेपर भी योग सिद्ध नहीं हुआ, इससे बढ़कर और क्या कष्ट होगा?' इस प्रकारका अनुताप निर्वेद है उससे रहित चित्तसे। तात्पर्य यह है कि 'इस जन्ममें अथवा दूसरे जन्ममें सिद्ध हो ही जायगा, जल्दी करनेसे क्या लाभ है?' ऐसे धैर्ययुक्त मनसे। यही बात गौडपादाचार्यजीने भी कही है—'जिस प्रकार कुशाग्रकी एक-एक बूँदसे समुद्रका उत्सेक हो जाता है वैसे ही किसी प्रकारका खेद न माननेसे मनका निग्रह भी हो ही जाता है।' उत्सेक—उत्सेचन अर्थात् सुखानेका निश्चय करके जल निकालना। यहाँ सम्प्रदायवेत्ता आचार्यगण यह आख्यायिका कहते हैं—'एक बार समुद्रने अपनी तरङ्गोंके वेगसे अपने तीरवर्ती किसी पक्षीके अण्डे चुरा लिये। उसने यह निश्चय करके कि 'मैं समुद्रको सुखा ही डालूँगा' अपनी चोंचसे उसकी एक-एक बूँद ऊपर फेंकनी आरम्भ की। उस समय वह अपने बहुतसे पक्षी—भाई-बन्धुओंके रोकनेपर भी नहीं रुका। दैववश वहाँ आये हुए नारदजीके रोकनेपर भी उसने यही प्रतिज्ञा की कि इस जन्म अथवा दूसरे जन्ममें किसी-न-किसी उपायसे मैं समुद्रको सुखा ही डालूँगा। तब तो विधाताकी अनुकूलताके कारण नारदजीने उसकी सहायताके लिये गरुडजीको, यह कहकर कि तुम्हारी जातिसे द्रोह करके समुद्रने तुम्हारा ही अपमान किया है, भेज दिया। तब गरुडजीके पंखोंकी

कृपालुर्नारदो गरुडं तत्साहाय्याय प्रेषयामास समुद्रस्वज्ञातिद्रोहेण त्वामवमन्यत इति वचनेन। ततो गरुडपक्षवातेन शुष्यन्समुद्रो भीतस्तान्यण्डानि तस्मै पक्षिणे प्रददाविति। एवमखेदेन मनोनिरोधे परमधर्मे प्रवर्तमानं योगिनमीश्वरोऽनुगृह्णाति। ततश्च पक्षिण इव तस्याभिमतं सिध्यतीति भावः॥२३॥

(१) किं च कृत्वा योगोऽभ्यसनीयः—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥

(२) संकल्पो दुष्टेष्वपि विषयेष्वशोभनत्वादर्शनेन शोभनाध्यासः। तस्माच्च संकल्पादिदं मे स्यादिदं मे स्यादित्येवंरूपाः कामाः प्रभवन्ति। ताञ्शोभनाध्यासप्रभवान्विषयाभिलाषान्विचारजन्यात्शोभनत्वनिश्चयेन शोभनाध्यासबाधाद्दृष्टेषु स्रक्चन्दनवनितादिष्वदृष्टेषु चेन्द्रलोकपारिजातापसरःप्रभृतिषु श्ववान्तपायसवत्स्वत एव सर्वान्ब्रह्मलोकपर्यन्तानशेषतो निरवशेषान्सवासनांस्त्यक्त्वा, अत एव कामपूर्वकत्वाद्इन्द्रियप्रवृत्तेस्तदपाये सति विवेकयुक्तेन मनसैवेन्द्रियग्रामं चक्षुरादिकरणसमूहं विनियम्य समन्ततः सर्वेभ्यो विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य शनैः शनैरुपरमेदित्यन्वयः॥ २४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

(३) भूमिकाजयक्रमेण शनैः शनैरुपरमेत्, धृतिर्धैर्यमखिन्नता तया गृहीता या बुद्धिरवश्यकर्तव्यतानिश्चयरूपा तया यदा कदाचिदवश्यं भविष्यत्येव योगः किं त्वरयेत्येवंरूपया शनैः शनैर्गुरु-

---

हवासे सूखते हुए समुद्रने डरकर उस पक्षीको वे अण्डे सौंप दिये। इसी प्रकार खेदहीन होकर मनोनिरोधरूप परमधर्ममें प्रवृत्त हुए योगीपर ईश्वर कृपा करता है। तब पक्षीके समान उसका अभीष्ट भी सिद्ध हो जाता है—ऐसा इसका भाव है॥ २३॥

(१) क्या करते हुए योगका अभ्यास करना चाहिये?—

[श्लोकार्थ :—संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली समस्त कामनाओंको सर्वथा त्याग कर तथा मनसे ही सब ओरसे इन्द्रियोंको रोककर॥ २४॥]

(२) दुष्ट विषयोंमें भी अशोभनत्व न देखनेके कारण शोभनताका अध्यास होना सङ्कल्प है। उस सङ्कल्पसे ही 'यह विषय मुझे मिले' ऐसी कामनाएँ होती हैं। माला, चन्दन और स्त्री आदि दृष्ट विषयोंमें तथा इन्द्रलोक, पारिजात और अप्सरा आदि अदृष्ट विषयोंमें शोभनताके अध्याससे होनेवाली उन विषयाभिलाषाओंको विचारजन्य अशोभनत्वनिश्चयसे शोभनाध्यासका बाध करके कुत्तेकी वमन की हुई खीरके समान ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी विषयोंको वासनाओंके सहित सर्वथा त्यागकर और इसीसे, क्योंकि इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति कामनापूर्वक होती है अतः उसकी निवृत्ति हो जानेपर मनहीसे इन्द्रियग्राम अर्थात् चक्षुआदि करणसमूहको विनियत कर—सम्पूर्ण विषयोंसे खींचकर शनैः शनैः उपरत करे—इस प्रकार इसका अन्वय है॥ २४॥

[श्लोकार्थः—धैर्यसे वशमें की हुई बुद्धिके द्वारा चित्तको धीरे-धीरे उपरत करे और उसे आत्मामें स्थित करके किसीका भी चिन्तन न करे॥ २५॥]

(३) भूमिकाजयके क्रमसे धीरे-धीरे उपरत करे। धृति धैर्य या अखिन्नताको कहते हैं। उससे वशमें की हुई जो अवश्यकर्त्तव्यताकी निश्चयरूपा बुद्धि है उससे 'कभी-न-कभी

पदिष्टमार्गेण मनो निरुन्ध्यात्। एतेनानिर्वेदनिश्चयौ प्रायुक्तौ दर्शितौ। तथा च श्रुतिः—

'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानं नियच्छेन्महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥' (कठ० १।३।१३) इति।

वागिति वाचं लौकिकीं वैदिकीं च मनसि व्यापारवति नियच्छेत्, 'नानुध्यायाद्बहून्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' (बृ० उ० ४।४।२१) इति श्रुतेः। वाग्वृत्तिनिरोधेन मनोवृत्तिमात्रशेषो भवेदित्यर्थः। चक्षुरादिनिरोधोऽप्येतस्यां भूमौ द्रष्टव्यः। मनसीति च्छान्दसं दैर्घ्यम्। तन्मनः कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियसहकारि नानाविधविकल्पसाधनं करणं ज्ञाने जानातीति ज्ञानमिति व्युत्पत्त्या ज्ञातर्यात्मनि ज्ञातृत्वोपाधावहंकारे नियच्छेत्, मनोव्यापारान्परित्यज्याहंकारमात्रं परिशेषयेत्। तच्च ज्ञानं ज्ञातृत्वोपाधिमहंकारमात्मनि महति महत्तत्त्वे सर्वव्यापके नियच्छेत्। द्विविधो ह्यहंकारो विशेषरूपः सामान्यरूपश्चेति। अयमहमेतस्य पुत्र इत्येवं व्यक्तमभिमन्यमानो विशेषरूपो व्यष्ट्यहंकारः। अस्मीत्येतावन्मात्रमभिमन्यमानः सामान्यरूपः समष्ट्यहंकारः। स च हिरण्यगर्भो महानात्मेति च सर्वानुस्यूतत्वाद्उच्यते। ताभ्यामहंकाराभ्यां विविक्तो निरुपाधिकः शान्तात्मा सर्वान्तरश्चिदेकरसस्तस्मिन्महान्तमात्मानं समष्टिबुद्धिं नियच्छेत्। एवं तत्कारणमव्यक्तमपि नियच्छेत्। ततो निरुपाधिकस्त्वंपदलक्ष्यः शुद्ध आत्मा साक्षात्कृतो भवति।

(१) शुद्धे हि चिदेकरसे प्रत्यगात्मनि जडशक्तिरूपमनिर्वाच्यमव्यक्तं प्रकृतिरुपाधिः। सा

अवश्य योग सिद्ध हो ही जायगा, जल्दी करनेसे क्या लाभ है?' इस प्रकारकी बुद्धिसे धीरे-धीरे गुरुके उपदेश किये हुए मार्गसे मनका निरोध करे। इससे पहले कहे हुए अनिर्वेद और निश्चय दिखाये गये हैं। ऐसा ही यह श्रुति भी कहती है—'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानं नियच्छेन्महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥'—वाक् अर्थात् लौकिकी और वैदिकी वाणीका व्यापारयुक्त मनमें निरोध करे। 'बहुतसे शब्दोंका चिन्तन न करे, क्योंकि वह वाणीका क्षयमात्र ही है' इस श्रुतिके अनुसार वाग्वृत्तिके निरोधसे जिसकी मनोवृत्तिमात्र शेष रह गयी है ऐसा हो जाय—ऐसा इसका तात्पर्य है। इसी भूमिकामें चक्षु आदि इन्द्रियोंका निरोध भी समझना चाहिये। 'मनसी' इसमें ईकारकी दीर्घता वैदिकी है। कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियके सहकारी तथा अनेक प्रकारके विकल्पोंके साधनभूत उस मनरूप करणको ज्ञानमें—'जानातीति ज्ञानम्' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञाता आत्मामें—ज्ञातृत्व उपाधिवाले अहंकारमें निरुद्ध करे। अर्थात् मनके व्यापारोंको छोड़कर अहंकारमात्रको शेष रखे। तथा उस ज्ञानको—ज्ञातृत्व उपाधिवाले अहंकारको महदात्मामें—सर्वव्यापक महत्तत्त्वमें निरुद्ध करे। अहंकार दो प्रकारका है—विशेषरूप और सामान्यरूप। 'यह मैं इसका पुत्र हूँ' इस प्रकार स्पष्टरूपसे अभिमान करनेवाला व्यष्टि अहंकार विशेषरूप है तथा 'अस्मि' केवल इतना अभिमान करनेवाला समष्टि अहंकार सामान्यरूप है। वही हिरण्यगर्भ और सबमें अनुस्यूत होनेके कारण महानात्मा कहा जाता है। उन दोनों प्रकारके अहंकारोंसे अलग निरुपाधिक शान्तात्मा सबसे आन्तरतम और चिदेकरस है, उसमें महान् आत्मारूप समष्टि बुद्धिका निरोध करे। इसी प्रकार उसके कारण अव्यक्तका भी निरोध करे। तब त्वंपदके लक्ष्य निरुपाधिक शुद्ध आत्माका साक्षात्कार होता है।

(१) शुद्धचिदेकरस प्रत्यगात्मामें जड़शक्तिरूप अनिर्वाच्य अव्यक्त या प्रकृति उपाधि है। वही पहले सामान्य अहंकाररूप महत्तत्त्व नाम धारण करके व्यक्त होती

च प्रथमं सामान्याहंकाररूपं महत्तत्त्वं नाम धृत्वा व्यक्तीभवति। ततो बहिर्विशेषाहंकाररूपेण। ततो बहिर्मनोरूपेण। ततो बहिर्वागादीन्द्रियरूपेण। तदेतच्छ्रुत्याऽभिहितम्—

'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥'
(कठ० १।३।१०,११) इति।

तत्र गवादिष्विव वाङ्निरोधः प्रथमा भूमिः। बालमुग्धादिष्विव निर्मनस्त्वं द्वितीया। तन्द्र्यामिवाहंकाररहित्यं तृतीया। सुषुप्तावि महत्तत्त्वरहित्यं चतुर्थी। तदेतद्भूमिचतुष्टयमपेक्ष्य शनैः शनैरुपरमेदित्युक्तम्। यद्यपि महत्तत्त्वशान्तात्मनोर्मध्ये महत्तत्त्वोपादानमव्याकृताख्यं तत्त्वं श्रुत्योदाहारि, तथाऽपि तत्र महत्तत्त्वस्य नियमनं नाभ्यधायि। सुषुप्तावि स्वरूपलयप्रसङ्गात्। तस्य च कर्मक्षये सति पुरुषप्रयत्नमन्तरेण स्वत एव सिद्धत्वात्तत्त्वदर्शनानुपयोगित्वाच्च। 'दृश्यते त्वग्रथया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इति पूर्वमभिधाय सूक्ष्मत्वसिद्धये निरोधसमाधेरभिधानात्। स च तत्त्वदिदृक्षोर्दर्शनसाधनत्वेन दृष्टतत्त्वस्य च जीवन्मुक्तिरूपक्लेशक्षयायापेक्षितः।

(१) ननु शान्तात्मन्यवरुद्धस्य चित्तस्य वृत्तिरहितत्वेन सुषुप्तिवन्न दर्शनहेतुत्वमिति चेत्, न, स्वतःसिद्धस्य दर्शनस्य निवारयितुमशक्यत्वात्। तदुक्तम्—
'आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽस्थितं सदा चित्तम्। आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टि विदधीत॥'

है, उससे बाह्य विशेष अहंकाररूपसे, उससे बाह्य मनरूपसे और उससे बाह्य वागादि इन्द्रियरूपसे प्रकट होती है। यही बात श्रुतिने भी कही है—'इन्द्रियाँ पर कही जाती हैं, इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे पर बुद्धि है, बुद्धिसे महदात्मा पर है, महदात्मासे पर अव्यक्त है और अव्यक्तसे पर पुरुष है। पुरुषसे पर कुछ भी नहीं है। वही अन्तिम सीमा है और वही परम गति है।' अतः गौ आदिके समान वाणीका निरोध पहली भूमिका है, बालक और मुग्ध पुरुषोंके समान मनसे रहित होना दूसरी भूमिका है, जैसा तन्द्रादिमें होता है वैसे अहंकारसे रहित होना तीसरी भूमिका है तथा सुषुप्तावस्थाके समान महत्तत्त्वसे शून्य होना चौथी भूमिका है। इन चार भूमिकाओंकी अपेक्षासे ही 'शनैः-शनैः उपरत करे' ऐसा कहा है। यद्यपि महत्तत्त्व और शान्तात्माके बीचमें श्रुतिने महत्तत्त्वके उपादानकारण अव्याकृतनामक तत्त्वका उल्लेख किया है तो भी महत्तत्त्वको उसमें लीन करनेके लिये नहीं कहा। क्योंकि ऐसा होनेपर सुषुप्तावस्थाके समान 'हे सोम्य! उस समय यह जीव सबसे अभिन्न हो जाता है' इस श्रुतिके अनुसार जीवके स्वरूपका लय होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। और वह तो कर्मोंका क्षय होनेपर पुरुषके प्रयत्न बिना स्वयं ही सिद्ध हो जाता है तथा तत्त्वसाक्षात्कारमें उपयोगी भी नहीं है, क्योंकि 'वह आत्मतत्त्व सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंको स्वतःसिद्ध सूक्ष्मबुद्धिसे दिखायी देता है' इस प्रकार पहले कहकर बुद्धिकी सूक्ष्मताके लिये श्रुतिने निरोधसमाधिका विधान किया है। उस निरोधसमाधिकी, तत्त्वदर्शनकी इच्छावालेके लिये दर्शनके साधनरूपसे और तत्त्वदर्शन किये हुए पुरुषके लिये जीवन्मुक्तिरूप क्लेशोंके क्षयके लिये आवश्यकता है।

(१) 'किन्तु शान्तात्मामें रोका हुआ चित्त तो वृत्तिरहित होनेके कारण सुषुप्तिके समान अदर्शनका ही कारण होगा' ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि उस अवस्थामें स्वतःसिद्ध आत्मदर्शनको कोई रोक नहीं सकता। कहा भी है—'चित्त सर्वदा स्वभावसे ही आत्माकार या अनात्माकार रहता है, अतः अनात्मदृष्टिके तिरस्कारपूर्वक उसे एकमात्र

यथा घटं उत्पद्यमानः स्वतो वियत्पूर्ण एवोत्पद्यते । जलतण्डुलादिपूरणं तूत्पन्ने घटे पश्चात्पुरुषप्रयत्नेन भवति । तत्र जलादौ निःसारितेऽपि वियन्निःसारयितुं न शक्यते । मुखपिधानेऽप्यन्तर्वियद्वतिष्ठत एव, तथा चित्तमुत्पद्यमानं चैतन्यपूर्णमेवोत्पद्यते । उत्पन्ने तु तस्मिन्मूषानिषिक्तद्रुतताम्रवद्वदुःखादिरूपत्वं भोगहेतुधर्माधर्मसहकृतसामग्रीवशाद्भवति । तत्र घटदुःखाद्यनात्माकारे विरामप्रत्ययाभ्यासेन निवारितेऽपि निर्निमित्तश्चिदाकारो वारयितुं न शक्यते । ततो निरोधसमाधिना निर्वृत्तिकेन चित्तेन संस्कारमात्रशेषतयाऽतिसूक्ष्मत्वेन निरुपाधिकचिदात्ममात्राभिमुखत्वाद्वृत्तिं विनैव निर्विघ्नमात्माऽनुभूयते । तदेतदाह—आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेदिति । आत्मनि निरुपाधिके प्रतीचि संस्था समाप्तिर्यस्य तदात्मसंस्थं सर्वप्रकारवृत्तिशून्यं स्वभावसिद्धात्माकारमात्रविशिष्टं मनः कृत्वा धृतिगृहीतया विवेकबुद्ध्या संपाद्यासंप्रज्ञातसमाधिस्थः सन्किंचिदपि अनात्मानमात्मानं वा न चिन्तयेत्, न वृत्त्या विषयीकुर्यात् । अनात्माकारवृत्तौ हि व्युत्थानमेव स्यात् । आत्माकारवृत्तौ च संप्रज्ञातः समाधिरित्यसंप्रज्ञातसमाधिस्थैर्याय कामपि चित्तवृत्तिं नोत्पादयेदित्यर्थः ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

आत्माकार ही रखना चाहिये।' जिस प्रकार उत्पन्न होनेवाला घड़ा स्वयं ही आकाश से भरा हुआ उत्पन्न होता है; उत्पन्न हुए घड़ेमें जल या चावल आदिकी भर्ती तो पीछे पुरुषके प्रयत्नसे होती है। तथा उसमेंसे जलादिके निकाल दिये जानेपर भी आकाशको नहीं निकाला जा सकता। उसका मुँह बन्द कर देनेपर भी आकाश तो उसके भीतर रह ही जाता है। इसी प्रकार उत्पन्न होनेवाला चित्त चैतन्यसे पूर्ण ही उत्पन्न होता है। उस उत्पन्न हुए चित्तमें साँचेमें डाले हुए पिघले हुए ताँबेके समान भोगके हेतुभूत पुण्य और पापकी सहकारिणी सामग्रीके कारण उसकी सुख-दुःखादिरूपता होती है। अतः विरामप्रत्ययके अभ्याससे घट और दुःखादिरूप अनात्माकारकी निवृत्ति कर देनेपर भी कारणहीन चिदाकारताकी निवृत्ति नहीं की जा सकती। अतः निरोधसमाधिके द्वारा वृत्तिशून्य हुए चित्तसे, उसके संस्कारमात्रशेष और अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे निरुपाधिक चिदात्माके ही अभिमुख रहनेके कारण, वृत्तिके बिना ही निर्विघ्नरूपसे आत्माका अनुभव हो सकता है। इसीसे ऐसा कहते हैं—'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'—आत्मा—निरुपाधिक प्रत्यगात्मामें ही है संस्था—समाप्ति जिसकी ऐसा आत्मसंस्थ अर्थात् धैर्यसे वशमें की हुई विवेकवती बुद्धिके द्वारा मनको सब प्रकारकी वृत्तियोंसे शून्य स्वभावसिद्ध आत्माकारमात्रसे युक्त करके यानी असम्प्रज्ञात समाधिमें स्थित होकर आत्मा या अनात्मा किसीका भी चिन्तन न करे—किसीको भी वृत्तिसे विषय न करे; क्योंकि अनात्माकार वृत्ति होनेपर तो व्युत्थान ही हो जायगा और आत्माकार वृत्ति होनेपर सम्प्रज्ञात समाधि होगी, इसलिये असम्प्रज्ञात समाधिकी स्थिरताके लिये चित्तकी किसी भी वृत्तिको उत्पन्न न करे—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ २५ ॥

[श्लोकार्थः—जिस-जिस कारणसे विक्षेप या लयके अभिमुख हुआ चित्त समाधिकी विरोधी वृत्तिको उत्पन्न करे उस-उस कारणसे इसे रोककर आत्मामें ही इसका निरोध करे ॥ २६ ॥]

(१) एवं निरोधसमाधिं कुर्वन्योगी शब्दादीनां चित्तविक्षेपहेतूनां मध्ये यतो यतो यस्माद्यस्मान्निमित्ताच्छब्दादेर्विषयाद्रागद्वेषादेश्च चञ्चलं विक्षेपाभिमुखं सन्मनो निश्चरति विक्षिप्तं सद्विषयाभिमुखीं प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृतीनामन्यतमामपि समाधिविरोधिनीं वृत्तिमुत्पादयति, तथा लयहेतूनां निद्राशेषबह्वशनश्रमादीनां मध्ये यतो यतो निमित्तादस्थिरं लयाभिमुखं सन्मनो निश्चरति लीनं सत्समाधिविरोधिनीं निद्राख्यां वृत्तिमुत्पादयति, ततस्ततो विक्षेपनिमित्ताल्लयनिमित्ताच्च नियम्यैतन्मनो निर्वृत्तिकं कृत्वाऽऽत्मन्येव स्वप्रकाशपरमानन्दघने वशं नयेन्निरुन्ध्यात्, यथा न विक्षिप्येत न वा लीयेतेति । एवकारोऽनात्मगोचरत्वं समाधेर्वारयति । एतच्च विवृतं गौडाचार्यपादैः—

'उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः । सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् । अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥
लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः । सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥
नाऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् । निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः । अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥'

इति पञ्चभिः श्लोकैः ।

(२) उपायेन वक्ष्यमाणेन वैराग्याभ्यासेन कामभोगयोर्विक्षिप्तं प्रमाणविपर्ययविकल्पस्मृतीनामन्यतमयाऽपि वृत्त्या परिणतं मनो निगृह्णीयान्निरुन्ध्यादात्मन्येवेत्यर्थः । कामभोगयोरिति चिन्त्यमानावस्थाभुज्यमानावस्थाभेदेन द्विवचनम् । तथा लीयतेऽस्मिन्निति लयः सुषुप्तं तस्मिन्सुप्रसन्नमायासवर्जितमपि मनो निगृह्णीयादेव । सुप्रसन्नं चेत्कुतो निगृह्यते तत्राऽऽह—यथा कामो विषय-

(१) इस प्रकार निरोधसमाधि करनेवाला योगी चित्तविक्षेपके हेतुभूत शब्दादिमेंसे जिस-जिस निमित्तसे शब्दादि विषय अथवा राग-द्वेषादिसे चञ्चल—विक्षेपके अभिमुख हुआ मन निकले—विक्षिप्त होकर विषयाभिमुखी प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति इनमेंसे समाधिकी विरोधिनी किसी भी वृत्तिको उत्पन्न करे तथा लयके हेतुभूत निद्रावृत्तिका शेष रह जाना, अधिक भोजन और श्रमादिमेंसे जिस-जिस निमित्तसे अस्थिर—लयके अभिमुख होकर मन निकले—लीन होता हुआ समाधिकी विरोधिनी निद्रावृत्तिको उत्पन्न करे उस-उस विक्षेपके निमित्त और लयके निमित्तसे इस मनको रोककर—वृत्तिशून्य कर स्वप्रकाश परमानन्दघन आत्मामें ही वशीभूत—निरुद्ध करे, जिससे कि वह विक्षिप्त या लीन न हो। 'आत्मन्येव' इसमें एवकार समाधिकी अनात्मविषयताका निषेध करता है। श्रीगौडपादाचार्यजीने इन पाँच श्लोकोंसे इसका स्पष्टीकरण किया है—

'उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः । सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् । अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥
लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः । सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥
नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् । निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात् प्रयत्नतः ॥
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः । अनिङ्गनमनायासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥'

(२) उपायसे अर्थात् आगे कहे जानेवाले वैराग्यके अभ्याससे काम और भोगसे विक्षिप्त—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति इनमेंसे किसी भी वृत्तिसे परिणामको प्राप्त हुए मनका निग्रह अर्थात् आत्मामें ही निरोध करे। 'कामभोगयोः' इसमें चिन्त्यमान अवस्था और भुज्यमान अवस्थाके भेदसे द्विवचन दिया गया है। इसी प्रकार जिसमें लीन हो उसे लय या सुषुप्त अवस्था कहते हैं उसमें सुप्रसन्न—श्रमहीन हुए मनका भी निग्रह ही करे। सुप्रसन्न होनेपर भी मनका निग्रह क्यों किया जाय? इसपर कहते हैं—जिस

गोचरप्रमाणादिवृत्त्युत्पादनेन समाधिविरोधी तथा लयोऽपि निद्राख्यवृत्त्युत्पादनेन समाधिविरोधी। सर्ववृत्तिनिरोधो हि समाधिः। अतः कामादिकृतविक्षेपादिव श्रमादिकृतलयादपि मनो निरोद्धव्यमित्यर्थः। उपायेन निगृह्णीयात्केनेत्युच्यते—सर्वं द्वैतमविद्याविजृम्भितमल्पं दुःखमेवेत्यनुस्मृत्य 'यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति अथ यदल्पं तन्मर्त्यं तदद्दुःखम्' इतिश्रुत्यर्थं गुरूपदेशादनु पश्चात्पर्यालोच्य कामाश्रिन्त्यमानावस्थान्विषयान्भोगान्मुज्यमानावस्थांश्च विषयानिवर्तयेत्, मनसः सकाशादिति शेषः। कामश्च भोगश्च कामभोगं तस्मान्मनो निवर्तयेदिति वा। एवं द्वैतस्मरणकाले वैराग्यभावनोपाय इत्यर्थः। द्वैतविस्मरणं तु परमोपाय इत्याह—अजं ब्रह्म सर्वं न ततोऽतिरिक्तं किंचिदस्तीति शास्त्राचार्योपदेशादनन्तरमनुस्मृत्य तद्विपरीतं द्वैतजातं न पश्यत्येव। अधिष्ठाने ज्ञाते कल्पितस्याभावात्। पूर्वोपायापेक्षया वैलक्षण्यसूचनार्थस्तुशब्दः। एवं वैराग्यभावनातत्त्वदर्शनाभ्यां विषयेभ्यो निवर्त्यमानं चित्तं यदि दैनंदिनलयाभ्यासवशाल्लयाभिमुखं भवेत्तदा निद्राशेषाजीर्णबह्वशनश्रमाणां लयकारणानां निरोधेन चित्तं सम्यक्प्रबोधयेदुत्थानप्रयत्नेन। यदि पुनरेवं प्रबोध्यमानं दैनंदिनप्रबोधाभ्यासवशात्कामभोगयोर्विक्षिपं स्यात्तदा वैराग्यभावनया तत्त्वसाक्षात्कारेण च पुनः शमयेत्। एवं पुनः पुनरभ्यस्यतो लयात्संबोधितं विषयेभ्यश्च व्यावर्तितं, नापि समप्राप्तमन्तराले वस्थं चित्तं स्तब्धीभूतं, सकषायं रागद्वेषादिप्रबलवासनावशेन स्तब्धीभावाख्येन कषायेण दोषेण युक्तं

प्रकार विषय-सम्बन्धी प्रमाणादि वृत्तियोंको उत्पन्न करनेके कारण काम (संकल्प) समाधिका विरोधी है उसी प्रकार निद्रासंज्ञक वृत्तिको उत्पन्न करनेके कारण लय भी समाधिका विरोधी है, क्योंकि समस्त वृत्तियोंका निरोध ही समाधि है। अतः तात्पर्य यह है कि कामादिजनित विक्षेपके समान श्रमादिजनित लयसे भी मनका निरोध करना चाहिये। उपायसे निग्रह करे; किस उपायसे, सो कहा जाता है—अविद्यासे कल्पित सारा द्वैत तुच्छ और दुःखरूप ही है—ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए—'जो भूमा है वही सुख है, अल्पमें सुख नहीं है, और जो अल्प है वह मर्त्य है—दुःखरूप है' इस श्रुतिके अर्थको गुरुके उपदेशके अनु—पीछे विचार करके काम अर्थात् चिन्त्यमान अवस्थावाले विषयोंको तथा भोग अर्थात् भुज्यमान अवस्थावाले विषयोंको मनसे दूर करे। यहाँ 'मनसः सकाशात्' इतना अध्याहार करना चाहिये। अथवा काम और भोग ही काममोग हैं उनसे मनको निवृत्त करे। इस प्रकार द्वैतका स्मरण होते समय वैराग्यभावना [उसकी निवृत्तिका] उपाय है—ऐसा इसका तात्पर्य है। द्वैतकी विस्मृति तो परम उपाय है, सो कहते हैं—सब अज ब्रह्म ही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है—ऐसा शास्त्र और आचार्यके उपदेशके अनन्तर स्मरण करके उससे विपरीत द्वैतजातको न देखे, क्योंकि अधिष्ठानका ज्ञान होनेपर कल्पित द्वैतका अभाव हो जाता है। पहले उपायकी अपेक्षा इसकी विलक्षणता सूचित करनेके लिये 'तु' शब्द दिया है। इस प्रकार वैराग्यभावना और तत्त्वदर्शनके द्वारा विषयोंसे निवृत्त किया जाता हुआ चित्त यदि नित्यप्रतिके लयाभ्यासके कारण लयके अभिमुख हो तो निद्राशेष, अजीर्ण, बहुभोजन और श्रमरूप लयके कारणोंके निरोधसे चित्तको उत्थानके प्रयत्न द्वारा सम्यक् प्रकारसे जाग्रत् करे। और यदि इस प्रकार जगाये जानेपर रोज-रोजके जगानेके अभ्यासवश काम और भोगसे विक्षिप्त होने लगे तो वैराग्यभावना और तत्त्वसाक्षात्कारके द्वारा उसे पुनः शान्त करे। इस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास करनेवाले पुरुषके लयसे जगाये जाते हुए, विषयोंसे हटाये हुए और सम-अवस्थाको भी प्राप्त न हुए बीचकी अवस्थामें स्थित स्तब्धीभूत—सकषाय अर्थात् राग-द्वेषादि प्रबल वासनाओंके कारण स्तब्धीभावसंज्ञक कषाय दोषसे युक्त चित्तको जाने। अर्थात् समाहित

विजानीयात्समाहिताच्चित्ताद्विवेकेन जानीयात्। ततश्च नेदं समाहितमित्यवगम्य लयविक्षेपाभ्यामिव कषायादपि चित्तं निरुन्ध्यात्। ततश्च लयविक्षेपकषायेषु परिहृतेषु परिशेषाच्चित्तेन समं ब्रह्म प्राप्यते। तच्च समप्राप्तं चित्तं कषायलयभ्रान्त्या न चालयेत्, विषयाभिमुखं न कुर्यात्। किंतु धृतिगृहीतया बुद्ध्या लयकषायप्राप्तेर्विविच्य तस्यामेव समप्राप्तावतियत्नेन स्थापयेत्। तत्र समाधौ परमसुखव्यक्तेऽपि सुखं नाऽऽस्वादयेत्। एतावन्तं कालमहं सुखीति सुखास्वादरूपां वृत्तिं न कुर्यात्समाधिभङ्गप्रसङ्गादिति प्रागेव कृतव्याख्यानम्। प्रज्ञया यदुपलभ्यते सुखं तदप्यविद्यापरिकल्पितं मृषैवेत्येवंभावनया निःसङ्गो निस्पृहः सर्वसुखेषु भवेत्। अथवा प्रज्ञया सविकल्पसुखाकारवृत्तिरूपया सह सङ्गं परित्यजेत्। न तु स्वरूपसुखमपि निर्वृत्तिकेन चित्तेन नानुभवेत्स्वभावप्राप्तस्य तस्य वारयितुमशक्यत्वात्। एवं सर्वतो निवर्त्यं निश्चलं प्रयत्नबलेन कृतं चित्तं स्वभावचाञ्चल्याद्विषयाभिमुखतया निश्चरद्बहिर्निर्गच्छदेकीकुर्यात्प्रयत्नतः, निरोधप्रयत्नेन समे ब्रह्मण्येकतां नयेत्। समप्राप्तं चित्तं कीदृशमित्युच्यते—यदा न लीयते नापि स्तब्धीभवति तामसत्वसाम्येन लयशब्देनैव स्तब्धीभावस्योपलक्षणात्। न च विक्षिप्यते पुनः, न शब्दाद्याकारवृत्तिमनुभवति। नापि सुखमास्वादयति, राजसत्वसाम्येन सुखास्वादस्यापि विक्षेपशब्देनोपलक्षणात्। पूर्वं भेददिर्देशस्तु पृथक्प्रयत्नकरणाय। एवं लयकषायाभ्यां विक्षेपसुखास्वादाभ्यां च रहितमनिङ्गनमिङ्गनं चलनं सवातप्रदीपवद्योगाभिमुख्यरूपं तद्रहितं निवातप्रदीपकल्पम्। अनाभासं न केनचिद्विषयाकारेणाऽऽभासत इत्येतत्।

चित्तसे विवेक करके उसे पहचाने। तब यह समझकर कि यह समाहित नहीं है लय और विक्षेपके समान कषायसे भी उसका निरोध करे। फिर तो लय, विक्षेप और कषायका त्याग हो जानेपर परिशेषतः चिन्मात्र सम ब्रह्म ही की प्राप्ति हो जाती है। उस सम-अवस्थाको प्राप्त हुए चित्तको कषाय या लयकी भ्रान्तिसे चलायमान अर्थात् विषयाभिमुख न करे, किन्तु धैर्यसे वशमें की हुई बुद्धिके द्वारा लय और कषायप्राप्तिसे उसका पार्थक्य कर उस समप्राप्तिमें ही अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक स्थापित करे। वहाँ—समाधिमें, उसके परम-सुखकी अभिव्यक्ति करनेवाली होनेपर भी, सुखका आस्वादन न करे। 'इतने समय तक मैं सुखी था' इस प्रकारकी सुखास्वादरूपा वृत्ति न करे, क्योंकि इससे समाधिभङ्गका प्रसङ्ग हो सकता है—इस प्रकार पहले ही व्याख्या की जा चुकी है। 'बुद्धिसे जिस सुखकी उपलब्धि होती है वह भी अविद्यापरिकल्पित और मिथ्या ही होता है' ऐसी भावनासे सब प्रकारके सुखोंमें निःसंग—निःस्पृह रहे। अथवा सविकल्प सुखाकारवृत्तिरूपा प्रज्ञासे संगका परित्याग करे, ऐसा नहीं कि वृत्तिशून्य चित्तसे स्वरूपसुखका भी अनुभव न करे, क्योंकि स्वभावसे ही प्राप्त होनेवाले उस आनन्दको तो रोका ही नहीं जा सकता। इस प्रकार सब ओरसे हटाकर प्रयत्नपूर्वक निश्चल किया हुआ चित्त स्वाभाविक चञ्चलताके कारण विषयाभिमुख होकर यदि निकले—बाहर जाय तो उसे प्रयत्नतः—निरोधके प्रयत्नद्वारा एकरूप करे—सम ब्रह्ममें एकताको प्राप्त करावे। कैसा चित्त समप्राप्त कहा जाता है?—जिस समय वह न तो लीन होता है अर्थात् न तो स्तब्धीभावको प्राप्त होता है, क्योंकि तामसत्वमें समता होनेके कारण यहाँ 'लय' शब्दसे ही स्तब्धीभाव उपलक्षित है, और न विक्षिप्त ही होता है अर्थात् न तो शब्दादिके आकारवाली वृत्तिका अनुभव करता है और न सुखका ही आस्वादन करता है, क्योंकि राजसत्वमें इन दोनोंकी समानता है और 'विक्षेप' शब्दसे सुखास्वाद भी उपलक्षित होता है। पहले जो इन दोनोंका भेद दिखाया गया है वह तो अलग-अलग इनके निरोधका प्रयत्न करनेके लिये है। इस प्रकार लय और कषाय तथा विक्षेप और सुखास्वादसे रहित अनिङ्गन—इङ्गन वायुयुक्त दीपकके समान लयाभिमुखरूप चलनका नाम है उससे रहित वायुहीन दीपकके

कषायसुखास्वादयोरुभयान्तर्भाव उक्त एव। यदैवं दोषचतुष्टयरहितं चित्तं भवति तदा तच्चित्तं ब्रह्म निष्पन्नं समं ब्रह्म प्राप्तं भवतीत्यर्थः। एतादृशश्च योगः श्रुत्या प्रतिपादितः—

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥'
(कठ० २।३।११,१२) इति।

एतन्मूलकमेव च 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति सूत्रम्। तस्माद्युक्तं ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेदिति॥ २६॥

(१) एवं योगाभ्यासबलादात्मन्येव योगिनः प्रशाम्यति मनः। ततश्च—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

(२) प्रकर्षेण शान्तं निर्वृत्तिकतया निरुद्धं संस्कारमात्रशेषं मनो यस्य तं प्रशान्तमनसं वृत्तिशून्यतया निर्मनस्कम्। निर्मनस्कत्वे हेतुगर्भं विशेषणद्वयं शान्तरजसमकल्मषमिति। शान्तं विक्षेपकं रजो यस्य तं विक्षेपशून्यम्। तथा न विद्यते कल्मषं लयहेतुस्तमो यस्य तमकल्मषं लयशून्यम्। शान्तरजसमित्यनेनैव तमोगुणोपलक्षणेऽकल्मषं संसारहेतुधर्माधर्मादिवर्जितमिति वा। ब्रह्मभूतं ब्रह्मैव सर्वमिति निश्चयेन समं ब्रह्म प्राप्तं जीवन्मुक्तमेनं योगिनम्। एवमुक्तेन प्रकारेणेति

समान और अनाभास—जो किसी भी विषयाकारसे भासित नहीं होता ऐसा। कषाय और सुखास्वाद इन दोनोंका भी इन्हींमें अन्तर्भाव कहा ही जा चुका है। जिस समय चित्त इस प्रकार इन चारों दोषोंसे रहित हो जाता है उस समय वह ब्रह्मनिष्पन्न अर्थात् सम ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है। ऐसे ही योगका 'जिस समय मनके सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उसे परमगति कहते हैं, उस स्थिर इन्द्रियधारणाको 'योग' ऐसा कहते हैं। उस अवस्थामें पुरुष प्रमादशून्य हो जाता है, क्योंकि योग ही उत्पत्ति और प्रलय है' इस श्रुतिने प्रतिपादन किया है तथा इसी मूलके आधारपर 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (चित्तकी वृत्तियोंका निरोध ही योग है) यह सूत्र है। अतः 'ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्' यह कथन ठीक ही है॥ २६॥

(१) इस प्रकार योगाभ्यासके बलसे योगीका मन आत्मामें ही शान्त हो जाता है और उससे—

[श्लोकार्थः—अत्यन्त शान्तचित्त, शान्तरजोगुण, तमोगुणसे रहित और ब्रह्मभूत इस योगीको उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है॥ २७॥]

(२) प्रकर्षसे शान्त अर्थात् वृत्तिशून्यरूपसे निरुद्ध संस्कारमात्रशेष है मन जिसका उस प्रशान्तमना अर्थात् वृत्तिशून्य होनेसे मनोहीन। 'शान्तरजसम्' और 'अकल्मषम्' ये दो विशेषण मनोहीनतामें ही हेतुयुक्त हैं; शान्त हो गया है विक्षेपक रजोगुण जिसका उस विक्षेपशून्य और नहीं है कल्मष—लयका हेतुभूत तमोगुण जिसमें उस अकल्मष—लय-शून्य, अथवा 'प्रशान्तरजसम्' इतनेसे ही तमोगुणका भी उपलक्षण हो जानेके कारण 'अकल्मषम्' अर्थात् संसारके हेतुभूत धर्म और अधर्म आदिसे रहित तथा ब्रह्मभूत—'सब ब्रह्म ही है' इस निश्चयसे सम ब्रह्मको प्राप्त—जीवन्मुक्त इस योगीको—यहाँ 'एनम्' के स्थानमें 'एवम्' ऐसा पाठ मानकर श्रीधरस्वामी 'उक्त प्रकारसे' ऐसी व्याख्या करते हैं

श्रीधरः। उत्तमं निरतिशयं सुखमुपैत्युपगच्छति। मनस्तद्वृत्त्योरभावे सुषुप्तौ स्वरूपसुखाविर्भाव-प्रसिद्धिं द्योतयति हिशब्दः। तथा च प्राग्व्याख्यातं सुखमात्यन्तिकं यत्तदित्यत्र॥ २७॥

(१) उक्तं सुखं योगिनः स्फुटीकरोति—

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥

(२) एवं मनसैवेन्द्रियग्राममित्यादियुक्तक्रमेणाऽऽत्मानं मनः सदा युञ्जन्समाद्दधद्योगी योगेन नित्यसंबन्धी विगतकल्मषो विगतमलः संसारहेतुधर्माधर्मरहितः सुखेनानायासेनेश्वरप्रणिधानात्सर्वा-न्तरायनिवृत्त्या ब्रह्मसंस्पर्शं सम्यक्त्वेन विषयास्पर्शेन सह ब्रह्मणः स्पर्शस्तादात्म्यं यस्मिंस्तद्विषया-संस्पर्शि ब्रह्मस्वरूपमित्येतत्। अत्यन्तं सर्वानन्तान्परिच्छेदानतिक्रान्तं निरतिशयं सुखमानन्दमश्नुते व्याप्नोति, सर्वतोनिर्वृत्तिकेन चित्तेन लयविक्षेपविलक्षणमनुभवति, विक्षेपे वृत्तिसत्त्वात्, लये च मनसोऽपि स्वरूपेणासत्त्वात्। सर्ववृत्तिशून्येन सूक्ष्मेण मनसा सुखानुभवः समाधावेवेत्यर्थः।

(३) अत्र चानायासेनेत्यन्तरायनिवृत्तिरुक्ता। ते चान्तराया दर्शिता योगसूत्रेण—'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्त-रायाः' (पा० द० १।३०) चित्तं विक्षिपन्ति योगादपनयन्तीति चित्तविक्षेपा योगप्रतिपक्षाः।

उत्तम—निरतिशय सुख उपलब्ध—प्राप्त होता है। यहाँ 'हि' शब्द मन और उसकी वृत्तियोंका अभाव होनेपर भी सुषुप्तिमें स्वरूपसुखके आविर्भावकी प्रसिद्धिको द्योतित करता है। इसी प्रकार 'सुखमात्यन्तिकं यत्तत्' (६।२१) इस स्थानपर पहले व्याख्या की जा चुकी है॥ २७॥

(१) योगीके उपर्युक्त सुखको स्पष्ट करते हैं—

[श्लोकार्थः—इस प्रकार मनको सदा समाधिमें नियुक्त करनेवाला योगी संसारके हेतुभूत धर्म और अधर्मसे रहित होकर अनायास ही ब्रह्मसे तादात्म्य रखनेवाले अत्यन्त सुखको प्राप्त करता है॥ २८॥]

(२) इस प्रकार 'मनसैवेन्द्रियग्रामम्' (६।२४) इत्यादि श्लोकसे कहे हुए क्रमसे आत्मा अर्थात् मनको योगयुक्त—समाहित करनेवाला योगी—योगसे नित्य सम्बन्ध रखने-वाला विगतकल्मष—विगतमल अर्थात् संसारके हेतुभूत धर्म और अधर्मसे रहित होकर सुखपूर्वक अर्थात् अनायास ही ईश्वरप्रणिधानके द्वारा समस्त अन्तरायोंकी निवृत्ति हो जानेसे ब्रह्मसंस्पर्श—सम्यक् होनेके कारण विषयके अस्पर्शके साथ-साथ ब्रह्मका स्पर्श—तादात्म्य है जिसके साथ उस विषयको स्पर्श न करनेवाले अर्थात् ब्रह्मस्वरूप अत्यन्त—सम्पूर्ण अन्त अर्थात् परिच्छेदोंसे अतिक्रान्त—निरतिशय सुख—आनन्दमें व्याप्त हो जाता है अर्थात् सब ओरसे वृत्तिशून्य हुए चित्तद्वारा लय और विक्षेपसे विलक्षण सुखका अनुभव करता है, क्योंकि विक्षेपमें तो वृत्ति बनी रहती है और लयमें मनकी भी स्वरूपसे स्थिति नहीं रहती, अतः तात्पर्य यह है कि समाधिमें समस्त वृत्तियोंसे शून्य सूक्ष्म मनसे ही सुखका अनुभव होता है।

(३) यहाँ 'अनायाससे' ऐसा कहकर अन्तरायोंकी निवृत्ति कही गयी है। उन अन्त-रायोंको 'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः' (यो० द० १।३०) इस योगसूत्रसे दिखाया गया है। जो चित्तको विक्षिप्त करते अर्थात् योगसे दूर ले जाते हैं वे चित्तविक्षेप योगके विरोधी हैं। इनमें

संशयभ्रान्तिदर्शने तावद्वृत्तिरूपतया वृत्तिनिरोधस्य साक्षात्प्रतिपक्षौ। व्याध्यादयस्तु सप्त वृत्तिसहचरिततया तत्प्रतिपक्षा इत्यर्थः। व्याधिर्धातुवैषम्यनिमित्तो विकारो ज्वरादिः। स्त्यानमकर्मण्यता गुरुणा शिष्यमाणस्याप्यासनादिकर्मानर्हतेति यावत्। योगः साधनीयो न वेत्युभयकोटिस्पृग्विज्ञानं संशयः। [स च] अतद्रूपप्रतिष्ठत्वेन विपर्ययान्तर्गतोऽपि सद्वुभयकोटिस्पर्शित्वैककोटिस्पर्शित्वरूपावान्तरविशेषविवक्षयाऽत्र विपर्ययाद्भेदेनोक्तः। प्रमादः समाधिसाधनानामनुष्ठानसामर्थ्येऽप्यननुष्ठानशीलता विषयान्तरव्याक्षेपतया योगसाधनेष्वौदासीन्यमिति यावत्। आलस्यं सत्यामप्यौदासीन्यप्रच्युतौ कफादिना तमसा च कायचित्तयोर्गुरुत्वम्। [तच्च] व्याधित्वेनाप्रसिद्धमपि योगविषये प्रवृत्तिविरोधि। अविरतिश्चित्तस्य विषयविशेष ऐकान्तिकोऽभिलाषः। भ्रान्तिदर्शनं योगासाधनेऽपि तत्साधनत्वबुद्धिस्तथा तत्साधनेऽप्यसाधनत्वबुद्धिः। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरेकाग्रताया अलाभः चित्तमूढविक्षिप्तरूपत्वमिति यावत्। अनवस्थितत्वं लब्धायामपि समाधिभूमौ प्रयत्नशैथिल्याच्चित्तस्य तत्राप्रतिष्ठितत्वम्। त एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इति चाभिधीयन्ते।

(१) 'दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः' (पा० द० १।३१) दुःखं चित्तस्य राजसः परिणामो बाधनालक्षणः। तच्चाऽऽध्यात्मिकं शारीरं मानसं च व्याधिवशात्कामादिवशाच्च भवति। आधिभौतिकं व्याघ्रादिजनितम्। आधिदैविकं ग्रहपीडादिजनितं द्वेषाख्यविपर्ययहेतुत्वात्समाधिविरोधि। दौर्मनस्यमिच्छाविघातादिबलवद्दुःखानुभवजन्यतिश्चित्तस्य तामसः परिणाम-

संशय और भ्रान्तिदर्शन तो वृत्तिरूप होनेके कारण वृत्तिनिरोधके साक्षात् विरोधी हैं तथा व्याधि आदि सात अन्तराय वृत्तियोंके साथ रहनेके कारण उसके विरोधी हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है। धातुओंकी विषमतासे होनेवाला ज्वरादि विकार व्याधि है। 'स्त्यान' अकर्मण्यताको कहते हैं। अर्थात् गुरुके सिखानेपर भी आसनादि कर्मोंमें योग्यता न होना। 'योग साधना चाहिये या नहीं' इस प्रकारका दोनों कोटियोंको स्पर्श करनेवाला विज्ञान 'संशय' है। वस्तुके स्वरूपमें प्रतिष्ठित न होनेके कारण विपर्ययके अन्तर्गत होनेपर भी दोनों कोटियोंको स्पर्श करना और एक कोटिको स्पर्श करनारूप इसका अवान्तर भेद बतलानेकी दृष्टिसे इसे विपर्ययसे भिन्नरूपसे कहा है। समाधिके साधनोंको करनेका सामर्थ्य होनेपर भी उन्हें न करनेके स्वभावको 'प्रमाद' कहते हैं अर्थात् दूसरे विषयोंमें लगे रहनेके कारण योगसाधनोंमें उदासीनता होना। उदासीनतासे रहित हो जानेपर भी कफादि अथवा तमोगुणके कारण शरीर और चित्तका भारी रहना 'आलस्य' है। व्याधिरूपसे प्रसिद्ध न होनेपर भी यह योग विषयमें प्रवृत्ति होनेका विरोधी है। किसी विशेष विषयमें चित्तकी ऐकान्तिकी अभिलाषा 'अविरति' है। जो योगका साधन नहीं है उसमें योगसाधनताबुद्धि होना और जो उसका साधन है उसमें असाधनताबुद्धि होना 'भ्रान्तिदर्शन' है। समाधिभूमि और एकाग्रताकी प्राप्ति न होना 'अलब्धभूमिकत्व' है। अर्थात् चित्तकी क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्तरूपता रहनी। समाधिभूमिके प्राप्त हो जानेपर भी प्रयत्नकी शिथिलताके कारण चित्तका उसमें स्थित न होना 'अनवस्थितत्व' है। ये नौ चित्तविक्षेप योगके मल—योगके विरोधी अर्थात् योगके अन्तराय कहे जाते हैं।

(१) 'दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः'—चित्तके बाधनालक्षण राजस परिणामका नाम 'दुःख' है। वह व्याधि और कामादिके कारण शरीर और मनसे सम्बन्ध रखनेपर आध्यात्मिक होता है, व्याघ्रादिसे होनेपर आधिभौतिक होता है और ग्रहपीडादिजनित होनेपर आधिदैविक होता है। द्वेषसंज्ञक विपर्ययका हेतु होनेके कारण यह समाधिका विरोधी है। इच्छाविघात आदि बलवान् दुःखानुभवसे होनेवाला

विशेषः क्षोभापरपर्यायः स्तब्धीभावः। स च तु कषायत्वाल्लयवत्समाधिविरोधी। अङ्गमेजयत्वमङ्गकम्पनमासनस्थैर्यविरोधि। प्राणेन बाह्यस्य वायोरन्तःप्रवेशनं श्वासः समाध्यङ्गरेचकविरोधी। प्राणेन कोष्ठस्य वायोर्बहिर्निःसरणं प्रश्वासः समाध्यङ्गपूरकविरोधी। समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति विक्षिप्तचित्तस्यैव भवन्तीति विक्षेपसहभुवोऽन्तराया एव। एतेऽभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः। ईश्वरप्रणिधानेन वा। तीव्रसंवेगानामासन्ने समाधिलाभे प्रस्तुत ईश्वरप्रणिधानाद्वेति पक्षान्तरमुक्त्वा प्रणिधेयमीश्वरं 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजं' 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (पा० द० १।२४–२६) इति त्रिभिः सूत्रैः प्रतिपाद्य तत्प्रणिधानं द्वाभ्यामसूत्रयत्—'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (पा० द० १।२७–२८) इति। 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (पा० द० १।२९) ततः प्रणवजपरूपात्तदर्थध्यानरूपाच्चेश्वरप्रणिधानात्प्रत्यक्चेतनस्य पुरुषस्य प्रकृतिविवेकेनाधिगमः साक्षात्कारो भवति। उक्तानामन्तरायाणामभावोऽपि भवतीत्यर्थः।

(१) अभ्यासवैराग्याभ्यासन्तरायनिवृत्तौ कर्तव्यायामभ्यासदार्ढ्यार्थमाह—'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' (पा० द० १।३२) तेषामन्तरायाणां प्रतिषेधार्थमेकस्मिन्कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वेऽभ्यासश्चेतसः पुनः पुनर्निवेशनं कार्यम्। तथा 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-

चित्तका तामस परिणामविशेष, जिसका दूसरा नाम क्षोभ है वह स्तब्धीभाव 'दौर्मनस्य' कहलाता है। कषाय होनेके कारण लयके समान यह भी समाधिका विरोधी है। अंगोंका काँपना अङ्गमेजयत्व है। यह आसनकी स्थिरताका विरोधी है। प्राणके द्वारा बाह्य वायुको भीतर ले जाना 'श्वास' है, यह समाधिके अंग रेचकका विरोधी है। प्राणके द्वारा उदरके भीतरकी वायुको बाहर निकालना 'प्रश्वास' है, यह समाधिके अंग पूरकका विरोधी है। ये सब समाहितचित्तको नहीं होते, विक्षिप्तचित्तको ही होते हैं। अतः विक्षेपके साथ होनेवाले अन्तराय ही हैं। इनका अभ्यास और वैराग्यद्वारा अथवा ईश्वरप्रणिधानद्वारा निरोध करना चाहिये। फिर तीव्र संवेग (आतुरता) वालोंको समाधिकी प्राप्ति समीप है—ऐसा प्रस्तुत होनेपर 'अथवा ईश्वरप्रणिधानसे' इस प्रकार दूसरा पक्ष कहकर ध्यानके योग्य ईश्वरका 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'[1] 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'[2] और 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'[3] इन तीन सूत्रोंसे प्रतिपादन कर 'तस्य वाचकः प्रणवः'[4] और 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'[5] इन दो सूत्रोंसे उसके ध्यानका वर्णन किया है। [फिर कहते हैं—] 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'—तब प्रणवके जपरूप और उसके अर्थके ध्यानरूप ईश्वरप्रणिधानसे प्रकृतिके विवेकद्वारा प्रत्यक्चेतन अर्थात् पुरुषका अधिगम—साक्षात्कार होता है और उक्त अन्तरायोंका भी अभाव हो जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

(१) अभ्यास और वैराग्यके द्वारा अन्तरायोंकी निवृत्ति करनी आवश्यक है, अतः अभ्यासकी दृढ़ताके लिये कहते हैं—'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः'—उन अन्तरायोंके प्रतिषेधके लिये किसी एक अभिमत तत्त्वमें अभ्यास—चित्तको पुनः पुनः स्थित करना

१. क्लेश, कर्म, विपाक और आशय—इनसे रहित पुरुषविशेष ईश्वर है।
२. उसमें सर्वज्ञताका निरतिशय (सबसे बढ़कर) बीज है।
३. कालसे परिच्छिन्न न होनेके कारण वह पूर्वपुरुषोंका भी गुरु है।
४. उसका वाचक ओंकार है।
५. उसका जप और उसके अर्थका चिन्तन [यह ईश्वरप्रणिधान है]।

विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' (पा० द० १।३३) मैत्री सौहार्दं, करुणा कृपा; मुदिता हर्षः, उपेक्षौदासीन्यं, सुखादिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपाद्यन्ते। सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु साध्वेतन्मम मित्राणां सुखित्वमिति मैत्रीं भावयेत्, न स्पर्धाम्। दुःखितेषु कथंनु नामैषा, दुःखनिवृत्तिः स्यादिति कृपामेव भावयेत्, नोपेक्षां न वा हर्षम्। पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षं कुर्यान्न तु द्वेषं न चोपेक्षाम्। अपुण्यवत्सु चौदासीन्यमेव भावयेन्नानुमोदनं न वा द्वेषम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च विगतरागद्वेषादिमलं चित्तं प्रसन्नं सदेकाग्रतायोग्यं भवति। मैत्र्यादिचतुष्टयं चोपलक्षणमभयं सत्त्वसंशुद्धिरित्यादीनाममानित्वमदम्भित्वमित्यादीनां च धर्माणां, सर्वेषामेतेषां शुभवासनारूपत्वेन मलिनवासनानिवर्तकत्वात्। रागद्वेषौ महाशत्रू सर्वपुरुषार्थप्रतिबन्धकौ महता प्रयत्नेन परिहर्तव्यावित्येतत्सूत्रार्थः। एवमन्येऽपि प्राणायामाद्य उपायाश्चित्तप्रसादनाय दर्शिताः। तदेतच्चित्तप्रसादनं भगवदनुग्रहेण यस्य जातं तं प्रत्येवैतद्वचनं—सुखेनेति। अन्यथा मनःप्रशमानुपपत्तेः॥ २८॥

(१) तदेवं निरोधसमाधिना त्वंपदलक्ष्ये तत्पदलक्ष्ये च शुद्धे साक्षात्कृते तदैक्यगोचरा तत्त्वमसीतिवेदान्तवाक्यजन्या निर्विकल्पकसाक्षात्काररूपा वृत्तिर्ब्रह्मविद्याभिधाना जायते। ततश्च कृत्स्नाविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या ब्रह्मसुखमत्यन्तमश्नुत इत्युपपादयति त्रिभिः श्लोकैः। तत्र प्रथमं त्वंपदलक्ष्योपस्थितिमाह—

चाहिये। तथा 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्'—मैत्री—सुहृदता, करुणा—कृपा, मुदिता—हर्ष, उपेक्षा—उदासीनता। 'सुखादि' शब्दोंसे सुखादिमानोंका प्रतिपादन किया गया है। सुखसामग्रीसे सम्पन्न समस्त प्राणियोंमें 'मेरे मित्रोंका इस प्रकार सुखी होना बड़े आनन्दकी बात है' इस प्रकार मैत्रीकी भावना करे, ईर्ष्या न करे। दुःखितोंके प्रति 'इनके दुःखकी निवृत्ति कैसे हो?' इस प्रकार कृपाकी ही भावना करे, उपेक्षा या हर्ष न करे। पुण्यवानोंके प्रति पुण्यका अनुमोदन करते हुए हर्ष करे, द्वेष या उपेक्षा न करे। तथा अपुण्यवानोंके प्रति उदासीनताकी ही भावना करे, उनका अनुमोदन अथवा उनसे द्वेष न करे। इसके इस प्रकार भावना करनेपर शुक्ल धर्मकी उत्पत्ति होती है। तब तो राग-द्वेषादि मलसे रहित हुआ चित्त प्रसन्न होकर एकाग्रताके योग्य हो जाता है। ये मैत्री आदि चार धर्म अभय—सत्त्वसंशुद्धि आदि तथा अमानित्व-अदम्भित्व आदि सभी धर्मोंके उपलक्षणमात्र हैं, क्योंकि शुभवासनारूप होनेके कारण ये सभी मलिन वासनाओंकी निवृत्ति करनेवाले हैं। इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि समस्त पुरुषार्थके प्रतिबन्धक राग-द्वेषरूप महान् शत्रुओंका अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिये। इसी प्रकार चित्तके प्रसादके लिये प्राणायाम आदि दूसरे उपाय भी दिखाये हैं। भगवान्‌की कृपासे जिसे यह चित्तप्रसाद प्राप्त हुआ है उसीके लिये 'सुखेन' यह वचन कहा गया है, नहीं तो मनका शान्त होना सम्भव नहीं है॥ २८॥

(१) तब इस प्रकार निरोधसमाधिके द्वारा त्वंपदके लक्ष्य और तत्पदके लक्ष्य शुद्ध चेतनका साक्षात्कार होनेपर उनके ऐक्यको विषय करनेवाली तथा 'तत्त्वमसि' इस वेदान्तवाक्यसे उत्पन्न होनेवाली ब्रह्मविद्या नामकी निर्विकल्पक साक्षात्काररूपा वृत्ति उत्पन्न होती है। फिर तो सम्पूर्ण अविद्या और उसके कार्यकी निवृत्ति हो जानेसे योगी अत्यन्त ब्रह्मानन्द प्राप्त करता है—इस विषयका तीन श्लोकोंसे वर्णन करते हैं। इसमें पहले त्वंपदके लक्ष्यकी सर्वत्र उपस्थितिका वर्णन करते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः॥ २९॥

(१) सर्वेषु भूतेषु स्थावरजङ्गमेषु शरीरेषु भोक्तृतया स्थितमेकमेव नित्यं विभुमात्मानं प्रत्यक्चेतनं साक्षिणं परमार्थसत्यमानन्दघनं साक्ष्येभ्योऽनृतजडपरिच्छिन्नदुःखरूपेभ्यो विवेकेनेक्षते साक्षात्करोति। तस्मिंश्चाऽऽत्मनि साक्षिणि सर्वाणि भूतानि साक्ष्याण्याध्यासिकेन संबन्धेन भोग्यतया कल्पितानि साक्षिसाक्ष्ययोः संबन्धान्तरानुपपत्तेर्मिथ्याभूतानि परिच्छिन्नानि जडानि दुःखात्मकानि साक्षिणो विवेकेनेक्षते। कः, योगयुक्तात्मा योगेन निर्विचारवैशारद्यरूपेण युक्तः प्रसादं प्राप्त आत्माऽन्तःकरणं यस्य स तथा। तथाच प्रागेवोक्तं—'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' 'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' इति। तथा च शब्दानुमानागोचरयथार्थविशेषवस्तुगोचरयोगजप्रत्यक्षेण ऋतंभरसंज्ञेन युगपत्सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं च सर्वं तुल्यमेव पश्यतीति सर्वत्र समं दर्शनं यस्येति सर्वत्रसमदर्शनः सन्नात्मानमनात्मानं च योगयुक्तात्मा यथावस्थितमीक्षत इति युक्तम्।

(२) अथवा यो योगयुक्तात्मा यो वा सर्वत्रसमदर्शनः स आत्मानमीक्षत इति योगिसमदर्शिनावात्मेक्षणाधिकारिणावुक्तौ। यथा हि चित्तवृत्तिनिरोधः साक्षिसाक्षात्कारहेतुस्तथा जडविवेकेन सर्वानुस्यूतचैतन्यपृथक्करणमपि। नावश्यं योग एवापेक्षितः। अत एवाऽऽह वसिष्ठः—

[श्लोकार्थः—योगसे जिसका चित्त निर्मल हो गया है वह सर्वत्र समान दृष्टि रखनेवाला योगी आत्माको समस्त भूतोंमें स्थित और समस्त भूतोंको आत्मामें स्थित देखता है॥ २९॥]

(१) समस्त भूत-अर्थात् स्थावर-जंगम शरीरोंमें भोक्तारूपसे स्थित एक ही नित्य विभु आत्माको—परामार्थसत्य आनन्दघन साक्षी प्रत्यक्चेतनको मिथ्या जड परिच्छिन्न दुःखरूप साक्ष्योंसे विवेकपूर्वक देखता—साक्षात्कार करता है। तथा उस साक्षी आत्मामें आध्यासिक सम्बन्धद्वारा भोग्यरूपसे कल्पित समस्त भूतोंको, साक्षी और साक्ष्यका कोई दूसरा सम्बन्ध न हो सकनेके कारण, मिथ्याभूत परिच्छिन्न जड दुःखमय और साक्षीसे पृथग्रूपसे देखता है। कौन? योगयुक्तात्मा—निर्विचारवैशारद्यरूप योगसे युक्त—प्रसादको प्राप्त है आत्मा—अन्तःकरण जिसका वह इस प्रकारका योगी। यह बात 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' और 'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' इन सूत्रोंसे पहले ही (पन्द्रहवें श्लोककी टीकामें) कही जा चुकी है। इस प्रकार शब्द और अनुमानकी अविषय यथार्थ विशेष वस्तुको विषय करनेवाले ऋतम्भरसंज्ञक योगज प्रत्यक्षसे वह एक ही साथ सूक्ष्म व्यवहित और दूरस्थ समस्त विषयोंको समान रूपसे ही देख लेता है। सर्वत्र समान है दर्शन जिसका ऐसा सर्वत्र समदर्शन होकर वह योगयुक्तात्मा आत्मा और अनात्माको उसके वास्तविक रूपमें देखता है, सो उचित ही है।

(२) अथवा योगयुक्तात्मा या जो सर्वत्र समदर्शी है वह आत्माका साक्षात्कार कर लेता है—इस प्रकार योगी और समदर्शी—ये दोनों आत्मसाक्षात्कारके अधिकारी बताये गये हैं। जिस प्रकार चित्तकी वृत्तियोंका निरोध साक्षीके साक्षात्कारका कारण है उसी प्रकार जडके विवेकद्वारा सबमें अनुस्यूत चैतन्यको अलग कर लेना भी उसका कारण

'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव । योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्वनिश्चयः । प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः ॥' इति ।

(१) चित्तनाशस्य साक्षिणः सकाशात्तदुपाधिभूतचित्तस्य पृथक्करणात्तददर्शनस्य । तस्योपाय-द्वयम्—एकोऽसंप्रज्ञातसमाधिः । संप्रज्ञातसमाधौ हि आत्मैकाकारवृत्तिप्रवाहयुक्तमन्तःकरणसत्त्वं साक्षिणाऽनुभूयते निरुद्धसर्ववृत्तिकं तूपशान्तत्वान्नानुभूयत इति विशेषः । द्वितीयस्तु साक्षिणि कल्पितं साक्ष्यमनृतत्वान्नास्त्येव साक्ष्येव तु परमार्थसत्यः केवलो विद्यत इति विचारः । तत्र प्रथममुपायं प्रपञ्चपरमार्थतावादिनो हैरण्यगर्भादयः प्रपेदिरे, तेषां परमार्थस्य चित्तस्यादर्शनेन साक्षिदर्शने निरोधातिरिक्तोपायासंभवात् । श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादमतोपजीविनस्त्वौपनिषदाः प्रपञ्चानृतत्ववादिनो द्वितीयमेवोपायमुपेयुः । तेषां ह्यधिष्ठानज्ञानदार्ढ्ये सति तत्र कल्पितस्य बाधितस्य चित्तस्य तद्दृश्यस्य चादर्शनमनायासेनैवोपपद्यते । अत एव भगवत्पूज्यपादाः कुत्रापि ब्रह्मविदां योगापेक्षां न व्युत्पादयांबभूवुः । अत एव चौपनिषदाः परमहंसाः श्रौते वेदान्तवाक्यविचार एव गुरुमुपसृत्य प्रवर्तन्ते ब्रह्मसाक्षात्काराय न तु योगे । विचारेणैव चित्तदोषनिराकरणेन तस्यान्यथासिद्धत्वादिति कृतमधिकेन ॥ २९ ॥

(२) एवं शुद्धं त्वंपदार्थं निरूप्य शुद्धं तत्पदार्थं निरूपयति—

है । इसके लिये अवश्य योगकी ही आवश्यकता नहीं है । इसीसे वसिष्ठजीने कहा है—'हे राघव ! चित्तनाशके योग और ज्ञान ये दो मार्ग हैं । योग चित्तकी वृत्तियोंका निरोध है और ज्ञान सम्यग्दर्शन है । किसीके लिये योग असाध्य होता है और किसीके लिये तत्त्वका निश्चय होना । इसीसे देवाधिदेव परम शिवने दो प्रकार कहे हैं ।'

(१) चित्तनाश अर्थात् साक्षीसे उसके उपाधिभूत चित्तको अलग करके उसकी अप्रतीति करनेके दो उपाय हैं—एक तो असम्प्रज्ञात समाधि, क्योंकि सम्प्रज्ञात समाधिमें तो साक्षीद्वारा एकमात्र आत्माकारवृत्तिप्रवाहयुक्त अन्तःकरण-सत्त्वका अनुभव किया जाता है, किन्तु जिसकी सब वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं उस चित्तसत्त्वका, उसके शान्त हो जानेके कारण, अनुभव नहीं होता । इतना इसका उससे अन्तर है । दूसरा उपाय ऐसा विचार है कि साक्षीमें कल्पित साक्ष्य मिथ्या होनेके कारण है ही नहीं; केवल परमार्थ सत्य साक्षी ही विद्यमान है । इनमें पहला विचार तो प्रपञ्चकी परमार्थताका प्रतिपादन करनेवाले हिरण्यगर्भोपासक आदि मानते हैं, क्योंकि उनके विचारसे चित्तके अदर्शनद्वारा साक्षीके दर्शनका निरोधके सिवा कोई और उपाय सम्भव नहीं है । किन्तु भगवत्पाद श्री शंकराचार्यके मतका आश्रय लेनेवाले प्रपञ्चमिथ्यात्ववादी वेदान्ती तो दूसरे उपायको ही स्वीकार करते हैं । उन्हें अधिष्ठानके ज्ञानकी दृढ़ता होनेपर उसमें कल्पित और बाधित चित्त तथा उसके दृश्यका अदर्शन अनायास ही सम्भव हो जाता है । अतः पूज्यपाद भगवान् शंकराचार्यने कहीं भी ब्रह्मवेत्ताओंके लिये योगकी आवश्यकताका प्रतिपादन नहीं किया । इसीसे वेदान्तनिष्ठ परमहंस गुरुदेवकी शरणमें जाकर ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये वेदान्तवाक्योंके विचारमें ही प्रवृत्त होते हैं, योगमें नहीं, क्योंकि विचारके द्वारा चित्तके दोषोंका निराकरण होनेपर वह तो स्वयं ही सिद्ध हो जाता है; अतः इस विषयमें अधिक व्याख्याकी आवश्यकता नहीं है ॥ २९ ॥

(२) इस प्रकार शुद्ध त्वंपदके अर्थका निरूपण कर अब शुद्ध तत्पदके अर्थका निरूपण करते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

(१) यो योगी मामीश्वरं तत्पदार्थमशेषप्रपञ्चकारणमायोपाधिकमुपाधिविवेकेन सर्वत्र प्रपञ्चे सद्रूपेण स्फुरणरूपेण चानुस्यूतं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं परमार्थसत्यमानन्दघनमनन्तं पश्यति योगजेन प्रत्यक्षेणापरोक्षीकरोति । तथा सर्वं च प्रपञ्चजातं मायया मय्यारोपितं मद्भिन्नतया मृषात्वेनैव पश्यति, तस्यैवंविवेकदर्शिनोऽहं तत्पदार्थो भगवान्न प्रणश्यामि, ईश्वरः कश्चिन्मद्भिन्नोऽस्तीति परोक्षज्ञानविषयो न भवामि, किं तु योगजापरोक्षज्ञानविषयो भवामि । यद्यपि वाक्यजापरोक्षज्ञान-विषयत्वं त्वंपदार्थांभेदेनैव तथाऽपि केवलस्यापि तत्पदार्थस्य योगजापरोक्षज्ञानविषयत्वमुपपद्यत एव । एवं योगजेन प्रत्यक्षेण मामपरोक्षीकुर्वन्स च मे न प्रणश्यति परोक्षो न भवति । स्वात्मा हि मम स विद्वानतिप्रियत्वात्सर्वदा मदपरोक्षज्ञानगोचरो भवति 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इत्युक्तेः । तथैव शरशय्यास्थभीष्मध्यानस्य युधिष्ठिरं प्रति भगवतोक्तेः । अविद्वांस्तु स्वात्मानमपि सन्तं भगवन्तं न पश्यति । अतो भगवान्पश्यन्नपि तं न पश्यति 'स पुनमविदितो न भुनक्ति' इति श्रुतेः । विद्वांस्तु सदैव संनिहितो भगवतोऽनुग्रहभाजनमित्यर्थः ॥ ३० ॥

(२) एवं त्वंपदार्थं तत्पदार्थं च शुद्धं निरूप्य तत्त्वमसीतिवाक्यार्थं निरूपयति—

[श्लोकार्थः—जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, मैं उसके परोक्ष ज्ञानका विषय नहीं होता और वह मेरे परोक्ष ज्ञानका विषय नहीं होता ॥ ३० ॥]

(१) जो योगी तत्-पदके अर्थ सम्पूर्ण प्रपञ्चके कारण मायारूप उपाधिवाले मुझ ईश्वरको उपाधिके विवेकद्वारा सद्रूप और चिद्रूपसे प्रपञ्चमें सर्वत्र अनुस्यूत, सम्पूर्ण उपा-धियोंसे रहित, परमार्थसत्य, आनन्दघन और अनन्त देखता अर्थात् योगजप्रत्यक्षसे उसका साक्षात्कार करता है, तथा सम्पूर्ण प्रपञ्चजातको मायाद्वारा मेरेमें आरोपित एवं मुझसे भिन्न मिथ्यारूपसे ही देखता है उस इस प्रकार विवेकदर्शन करनेवालेको मैं तत्पदका अर्थ भगवान् परोक्ष नहीं होता अर्थात् 'ईश्वर मुझसे कोई भिन्न है' इस प्रकार मैं उसके परोक्षज्ञानका विषय नहीं होता, किन्तु योगजनित अपरोक्ष ज्ञानका विषय होता हूँ । यद्यपि वाक्यजनित अपरोक्षज्ञानकी विषयता त्वंपदार्थके अभेदरूपसे ही होती है तो भी केवल तत्पदार्थका भी योगज अपरोक्षज्ञानका विषय होना उपपन्न ही है । इस प्रकार योगजनित प्रत्यक्षसे मुझे अपरोक्ष करनेवाला वह योगी मुझे परोक्ष नहीं होता अर्थात् मेरे परोक्षज्ञानका विषय नहीं होता; क्योंकि वह विद्वान् मेरा अपना आत्मा ही है, अतः अत्यन्त प्रिय होनेके कारण सर्वदा मेरे अपरोक्ष ज्ञानका विषय होता है; जैसा कि 'मुझे जो जिस प्रकार भजते हैं उन्हें मैं उसीप्रकार भजता हूँ' इस उक्तिसे सिद्ध होता है । शरशय्यापर स्थित भीष्मजीके ध्यानके विषयमें भी श्रीभगवानने युधिष्ठिरसे ऐसा ही कहा था । अविद्वान् तो अपना आत्मा होनेपर भी भगवान्‌को नहीं देखता, अतः भगवान् उसे देखते हुए भी नहीं देखते; जैसा कि 'ज्ञान न होनेपर वह इसका पालन नहीं करता' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है; किन्तु विद्वान् तो सर्वदा भगवान्‌की सन्निधिमें रहनेके कारण उनके अनुग्रहका पात्र रहता है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ३० ॥

(२) इस प्रकार शुद्ध त्वंपदार्थ और तत्पदार्थका निरूपण कर 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यके अर्थका निरूपण करते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

(१) सर्वेषु भूतेष्वधिष्ठानतया स्थितं सर्वानुस्यूतसन्मात्रं मामीश्वरं तत्पदलक्ष्यं स्वेन त्वंपदलक्ष्येण सहैकत्वमत्यन्ताभेदमास्थितो घटाकाशो महाकाश इत्यत्रेवोपाधिभेदनिराकरणेन निश्चिन्वन्यो भजति अहं ब्रह्मास्मीतिवेदान्तवाक्यजेन साक्षात्कारेणापरोक्षीकरोति सोऽविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या जीवन्मुक्तः कृतकृत्य एव भवति । यावत्तु तस्य बाधितानुवृत्त्या शरीरादिदर्शनमनुवर्तते तावत्प्रारब्धकर्मप्राबल्यात्सर्वकर्मत्यागेन वा याज्ञवल्क्यादिवत्, विहितेन कर्मणा वा जनकादिवत्, प्रतिषिद्धेन कर्मणा वा दत्तात्रेयादिवत्, सर्वथा येन केनापि रूपेण वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि स योगी ब्रह्माहमस्मीति विद्वान्मयि परमात्मन्येवाभेदेन वर्तते । सर्वथा तस्य मोक्षं प्रति नास्ति प्रतिबन्धशङ्का 'तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' इति श्रुतेः । देवा महाप्रभावा अपि तस्य मोक्षाभवनाय नेशते किमुतान्ये क्षुद्रा इत्यर्थः । ब्रह्मविदो निषिद्धकर्मणि प्रवर्तकयो रागद्वेषयोरसंभवेन निषिद्धकर्मासंभवेऽपि तदङ्गीकृत्य ज्ञानस्तुत्यर्थमिदमुक्तं सर्वथा वर्तमानोऽपीति हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यत इतिवत् ॥ ३१ ॥

(२) एवमुत्पन्नेऽपि तत्त्वबोधे कश्चिन्मनोनाशवासनाक्षययोरभावाज्जीवन्मुक्तिसुखं नानुभवति

[श्लोकार्थः—सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित मुझको जो एकत्वके निश्चयपूर्वक भजता है वह योगी सब प्रकार बर्तता हुआ भी मुझ ही में बर्तता है ॥ ३१ ॥]

(१) समस्त भूतोंमें अधिष्ठानरूपसे स्थित, सबमें अनुस्यूत सन्मात्र एवं 'तत्' पदके लक्ष्य मुझ ईश्वरको जो 'त्वं' पदके लक्ष्य अपने स्वरूपके साथ, घटाकाशके साथ महाकाशके समान, इसी जगह औपाधिक भेदके निराकरणद्वारा एकत्व—अत्यन्त अभेदपूर्वक निश्चय करके भजता है, अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार वेदान्तवाक्यजनित साक्षात्कारसे अपरोक्ष अनुभव करता है, वह अविद्या और उसके कार्यकी निवृत्तिद्वारा जीवन्मुक्त और कृतकृत्य ही हो जाता है। जबतक बाधितानुवृत्तिसे उसके शरीरादि देखे जाते हैं तबतक प्रारब्धकर्मकी प्रबलतासे याज्ञवल्क्यादिके समान समस्त कर्मोंके परित्यागपूर्वक, जनकादिके समान विहित कर्म करते हुए अथवा दत्तात्रेयादिके समान निषिद्ध कर्मोंका आचरण करते हुए सर्वथा—जिस किसी भी तरह वर्तते अर्थात् व्यवहार करते हुए वह योगी—'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जाननेवाला अभेदपूर्वक मुझ परमात्मामें ही बर्तता है। किसी भी प्रकार उसके मोक्षमें प्रतिबन्ध होनेकी शंका नहीं है; जैसा कि 'देवतालोग उसका पराभव करनेमें समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका आत्मा हो जाता है' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि देवतालोग अत्यन्त प्रभावशाली होनेपर भी उसका मोक्ष न होने देनेमें समर्थ नहीं होते, अन्य क्षुद्र जीवोंकी तो बात ही क्या है ? ब्रह्मवेत्तामें निषिद्ध कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाले राग-द्वेषोंकी सम्भावना न होनेके कारण उससे निषिद्ध कर्म होने सम्भव न होनेपर भी उन्हें अङ्गीकार करके ज्ञानकी स्तुतिके लिये 'हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते' (१८।१७) इस उक्तिके समान 'वह सब प्रकार बर्तते हुए भी' ऐसा कहा है ॥ ३१ ॥

(२) इस प्रकार तत्त्वबोध हो जानेपर भी कोई योगी मनोनाश और वासनाक्षय न होनेके कारण जीवन्मुक्तिसुखका अनुभव नहीं कर पाता; चित्तके विक्षेपके कारण वह

चित्तविक्षेपेण च दृष्टदुःखमनुभवति सोऽपरमो योगी देहपाते कैवल्यभागित्वात्, देहसद्भावपर्यन्तं च दृष्टदुःखानुभवात्, तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयाणां तु युगपदभ्यासाद् दृष्टदुःखनिवृत्तिपूर्वकं जीवन्मुक्तिसुखमनुभवन्प्रारब्धकर्मवशात्समाधेर्व्युत्थानकाले—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

(१) आत्मैवौपम्यमुपमा तेनाऽऽत्मदृष्टान्तेन सर्वत्र प्राणिजाते सुखं वा यदि वा दुःखं समं तुल्यं यः पश्यति स्वस्यानिष्टं यथा न संपादयति एवं परस्याप्यनिष्टं यो न संपादयति द्वेषशून्यस्वात् । एवं स्वस्येष्टं यथा संपादयति तथा परस्यापीष्टं यः संपादयति रागशून्यस्वात्, स निर्वासनतयोपशान्तमना योगी ब्रह्मवित्परमः श्रेष्ठो मतः पूर्वस्मात्, हेऽर्जुन । अतस्तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयाणामक्रममभ्यासाय महान्प्रयत्न आस्थेय इत्यर्थः ।

(२) तत्रेदं सर्वं द्वैतजातमद्वितीये चिदानन्दात्मनि मायया कल्पितत्वान्मृषैवाऽऽत्मैवैकः परमार्थसत्यः सच्चिदानन्दाद्वयोऽहमस्मीति ज्ञानं तत्त्वज्ञानं प्रदीपज्वालासंतानवद्वृत्तिसंतानरूपेण परिणममानमन्तःकरणद्रव्यं मननात्मकत्वान्मन इत्युच्यते । तस्य नाशो नाम वृत्तिरूपपरिणामं परित्यज्य सर्ववृत्तिविरोधिना निरोधाकारेण परिणामः । पूर्वापरपरामर्शमन्तरेण सहसोत्पद्यमानस्य क्रोधादिवृत्तिविशेषस्य हेतुश्चित्तगतः संस्कारविशेषो वासना पूर्वपूर्वाभ्यासेन चित्ते वास्यमानत्वात् ।

दृष्ट दुःखका अनुभव करता है। देहपातके अनन्तर कैवल्यमोक्षका भागी और देहकी स्थितिपर्यन्त दृष्ट दुःखका अनुभव करनेके कारण वह अपरमयोगी होता है। किन्तु तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षयका एकसाथ अभ्यास करनेसे दृष्ट दुःखकी निवृत्तिपूर्वक जीवन्मुक्तिसुखका अनुभव करते हुए, प्रारब्ध कर्मवश समाधिसे व्युत्थान होनेके समय—

[श्लोकार्थः—हे अर्जुन ! जो अपना ही दृष्टान्त रखकर समस्त प्राणियोंके सुख या दुःखको समान रूपसे देखता है वह परम योगी माना गया है ॥ ३२ ॥]

(१) हे अर्जुन ! आत्मा ही है औपम्य—उपमा जिसकी उससे अर्थात् अपने ही दृष्टान्तसे जो सर्वत्र—समस्त प्राणियोंमें सुखको अथवा दुःखको सम—तुल्य देखता है, अर्थात् जिस प्रकार अपना अनिष्ट नहीं करता उसी प्रकार द्वेषशून्य होनेके कारण जो दूसरोंका भी अनिष्ट नहीं करता तथा जिस प्रकार अपना इष्ट करता है उसी प्रकार रागशून्य होनेके कारण जो दूसरों का भी इष्ट करता है वह वासनाशून्य होनेके कारण शान्तचित्त ब्रह्मज्ञ योगी पूर्वोक्त योगी की अपेक्षा परम अर्थात् श्रेष्ठ माना गया है। अतः तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षयके यथाक्रम अभ्यासके लिये महान् प्रयत्न करना चाहिये।

(२) इनमें 'यह सारा द्वैतप्रपञ्च अद्वितीय चिदानन्दस्वरूप आत्मामें मायासे कल्पित होनेके कारण मिथ्या ही है, एक आत्मा ही परमार्थ-सत्य है और वह सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय आत्मा मैं हूँ' इस प्रकारका ज्ञान तत्त्वज्ञान है। दीपककी ज्योतिके प्रवाहके समान वृत्तियोंके प्रवाहरूपसे परिणामको प्राप्त होता रहनेवाला अन्तःकरणरूप द्रव्य मननात्मक होनेके कारण 'मन' कहा जाता है। वृत्तिरूप परिणामको छोड़कर समस्त वृत्तियोंके विरोधी निरोधाकारसे परिणत होना—यह उसका नाश है। आगे-पीछेका विचार किये बिना सहसा उत्पन्न होनेवाली क्रोधादिवृत्तिविशेषका कारण जो चित्तगत संस्कारविशेष है

तस्याः क्षयो नाम विवेकजन्यायां चित्तप्रशमवासनायां दृढायां सत्यपि बाह्ये निमित्ते क्रोधाद्यनुत्पत्तिः। तत्र तत्त्वज्ञाने सति मिथ्याभूते जगति नरविषाणादाविव धीवृत्त्यनुदयादात्मनश्च दृष्टत्वेन पुनर्वृत्त्यनुपयोगान्निरिन्धनाग्निवन्मनो नश्यति। नष्टे च मनसि संस्कारोद्बोधकस्य बाह्यस्य निमित्तस्याप्रतीतौ वासना क्षीयते। क्षीणायां वासनायां हेत्वभावेन क्रोधादिवृत्त्यनुदयान्मनो नश्यति। नष्टे च मनसि शमदमादिसंपत्त्या तत्त्वज्ञानमुदेति। एवमुत्पन्ने तत्त्वज्ञाने रागद्वेषादिरूपा वासना क्षीयते। क्षीणायां च वासनायां प्रतिबन्धाभावात्तत्त्वज्ञानोदय इति परस्परकारणत्वं दर्शनीयम्।

(१) अत एव भगवान्वसिष्ठ आह—

'तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च। मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितानि हि॥
तस्माद्राघव यत्नेन पौरुषेण विवेकिना। भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाश्रय॥' इति।
पौरुषो यत्नः केनाप्युपायेनावश्यं संपादयिष्यामीत्येवंविधोत्साहरूपो निर्बन्धः। विवेको नाम विविच्य निश्चयः। तत्त्वज्ञानस्य श्रवणादिकं साधनं, मनोनाशस्य योगः, वासनाक्षयस्य प्रतिकूलवासनोत्पादनमिति। एतादृशविवेकयुक्तेन पौरुषेण प्रयत्नेन भोगेच्छायाः स्वल्पाया अपि हविषा कृष्णवर्त्मेवेति न्यायेन वासनावृद्धिहेतुत्वाद् दूरत इत्युक्तम्।

(२) द्विविधो हि विद्याधिकारी कृतोपास्तिरकृतोपास्तिश्च। तत्र य उपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तामुपासिं कृत्वा तत्त्वज्ञानाय प्रवृत्तस्तस्य वासनाक्षयमनोनाशयोर्दृढतरत्वेन ज्ञानादूर्ध्वं जीवन्मुक्तिः स्वत एव सिध्यति। इदानींतनस्तु प्रायेणाकृतोपास्तिरेव मुमुक्षुरौत्सुक्यमात्रात्सहसा विद्यायां प्रवर्तते। योगं विना चिज्जडविवेकमात्रेणैव च मनोनाशवासनाक्षयौ तात्कालिकौ संपाद्य शमदमादिसंपत्त्या श्रवणमननिदिध्यासनानि संपादयति। तैश्च दृढाभ्यस्तैः सर्वबन्धविच्छेदि तत्त्वज्ञानमुदेति। अविद्याग्रन्थिरब्रह्मत्वं हृदयग्रन्थिः संशयाः कर्माण्यसर्वकामत्वं मृत्युः पुनर्जन्म चेत्यनेकविधो बन्धो ज्ञानान्निवर्तते। तथा च श्रूयते—'यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।'

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्', 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह', 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति।'

'यस्तु विज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥'

'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति' इत्यसर्वत्वनिवृत्तिफलमुदाहार्यम्। सेयं विदेहमुक्तिः सत्यपि देहे ज्ञानोत्पत्तिसमकालीना ज्ञेया। ब्रह्मण्यविद्याध्यासोपितानामेतेषां बन्धानामविद्यानाशे सति निवृत्तौ पुनरुत्पत्त्यसंभवात्। अतः शैथिल्यहेत्वभावाच्चक्षज्ञानं तस्यानुवर्तते। मनोनाशवासनाक्षयौ तु दृढाभ्यासाभावाद्भोगप्रदेन प्रारब्धेन कर्मणा बाध्यमानत्वाच्च सवातप्रदेशप्रदीपवत्सहसा निवर्तेते। अत इदानींतनस्य तत्त्वज्ञानिनः प्राक्सिद्धे तत्त्वज्ञाने न प्रयत्नापेक्षा। किं तु मनोनाशवासनाक्षयौ प्रयत्नसाध्याविति। तत्र मनोनाशोऽसंप्रज्ञातसमाधिनिरूपणेन निरूपितः प्राक्। वासनाक्षयस्त्विदानीं निरूप्यते।

वह चित्तमें पूर्वाभ्याससे बसी होनेके कारण 'वासना' है। विवेकसे उत्पन्न होनेवाली चित्तशान्तिकी वासनाके पुष्ट हो जानेपर बाह्य निमित्तके रहनेपर भी क्रोधादिका उत्पन्न न होना—यह उस वासनाका क्षय है। सो तत्त्वज्ञान हो जानेपर मिथ्याभूत जगत्में नरशृङ्गादिके समान बुद्धिकी वृत्तिका उदय न होनेसे तथा आत्माका साक्षात्कार हो जानेके कारण उसके लिये फिर वृत्तिका कोई उपयोग न रहनेसे काष्ठशून्य अग्निके समान मनका नाश हो जाता है, मनका नाश होनेपर संस्कारोंको जगानेवाले किसी बाह्य निमित्तकी प्रतीति न होनेसे वासनाका क्षय हो जाता है, वासनाका क्षय हो जानेपर कारणका अभाव हो जानेसे क्रोधादि वृत्तियोंका उदय न होनेके कारण मनका नाश हो जाता है, मनका नाश होनेसे शम-दमादि सम्पत्तिके प्रभावसे तत्त्वज्ञानका उदय हो जाता है तथा तत्त्वज्ञानका उदय होनेसे राग-द्वेषादिरूप वासना क्षीण हो जाती है एवं वासनाका क्षय होनेपर प्रतिबन्धका अभाव हो जानेसे तत्त्वज्ञान उदय हो जाता है—इस प्रकार इनकी परस्पर कारणता समझनी चाहिये।

(१) इसीसे भगवान् वसिष्ठजीने कहा है—'तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय ये परस्पर एक-दूसरेके कारण होकर कष्टसाध्यरूपसे स्थित हैं। अतः रघुनाथजी! तुम विवेकयुक्त पौरुष प्रयत्नके द्वारा भोगेच्छाको दूरसे ही त्यागकर इन तीनोंका आश्रय लो।' 'किसी भी उपायसे मैं इसे अवश्य करूँगा' इस प्रकारका उत्साहरूप आग्रह 'पौरुष प्रयत्न' है, अलग-अलग करके निश्चय करना 'विवेक' है, श्रवणादिक तत्त्वज्ञान के साधन हैं, योग मनोनाशका साधन है और विपरीत वासनाओंको उत्पन्न करना वासनाक्षयका साधन है। 'हविसे जैसे अग्नि बढ़ जाती है' इसी न्यायसे थोड़ी-सी भोगेच्छा भी वासनाओंकी वृद्धिका कारण हो जाती है, अतः इस प्रकारके विवेकयुक्त पौरुष प्रयत्नसे उसे 'दूरसे ही त्यागकर' ऐसा कहा है।

(२) ज्ञानके अधिकारी दो प्रकारके हैं—कृतोपास्ति और अकृतोपास्ति। इनमें जो उपास्यदेवके साक्षात्कार पर्यन्त उपासना करके तत्त्वज्ञानके लिये प्रवृत्त होता है उसके

वासनाक्षय और मनोनाश पुष्ट हो जानेके कारण उसे ज्ञानके पश्चात् स्वयं ही जीवन्मुक्ति सिद्ध हो जाती है। आजकलके अकृतोपास्ति मुमुक्षु तो प्रायः उत्सुकतामात्रसे ही सहसा ज्ञानमें प्रवृत्त हो जाते हैं। वे योगके बिना जड़ और चेतनके विवेकमात्रसे ही तात्कालिक मनोनाश और वासनाक्षयका सम्पादन कर शम-दमादि साधनसम्पत्तिपूर्वक श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हैं। दृढ़ अभ्यास करनेपर उन्हींसे समस्त बन्धनोंका छेदन करनेवाला तत्त्वज्ञान उदित हो जाता है। ज्ञानसे अविद्याग्रन्थि, अब्रह्मत्व, हृदयग्रन्थि, संशय, कर्म, सर्वकामता, मृत्यु और पुनर्जन्म—ये कई प्रकारके बन्धन निवृत्त हो जाते हैं। ऐसा ही श्रुति भी कहती है—'हे सोम्य! जो हृदयाकाशमें निहित तत्त्वको जानता है वह इस लोकमें अविद्यारूप ग्रन्थिको काट देता है' 'ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है' 'पर (हिरण्यगर्भ) है अवर (निष्कृष्ट) जिससे ऐसे उस परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर हृदयकी गाँठ खुल जाती है, सारे संशय कट जाते हैं और सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं' 'ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्तरूप है' 'जो परमाकाशरूप हृदयगुहामें निहित तत्त्वको जानता है वह समस्त कामनाओंको एक साथ प्राप्त कर लेता है' 'उसे जानकर ही पुरुष मृत्युको पार कर जाता है' 'जो विज्ञानवान्' अमनस्क और सर्वदा पवित्र होता है वह उस पदको प्राप्त कर लेता है जहाँसे फिर जन्म नहीं होता' तथा 'जो ऐसा जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ वह यह सब हो जाता है।' इस प्रकार असर्वत्वकी निवृत्ति ही तत्त्वज्ञानका फल बताना चाहिये। ऐसी यह विदेहमुक्ति शरीरके रहनेपर भी ज्ञानोत्पत्तिके साथ ही होनेवाली सकझनी चाहिये, क्योंकि ब्रह्ममें अविद्यासे आरोपित इन बन्धनोंकी अविद्याका नाश होनेसे निवृत्ति हो जानेपर फिर उत्पत्ति होनी सम्भव नहीं है। अतः शिथिलताका कोई कारण न होनेसे उसे तत्त्वज्ञान तो बना रहता है, किन्तु दृढ अभ्यास न होनेके कारण भोगप्रद

(१) तत्र वासनास्वरूपं वसिष्ठ आह—

'दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् । यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥'

अत्र च स्वस्वदेशाचारकुलधर्मस्वभावभेदतद्वतापशब्दसुशब्दादिषु प्राणिनाममिनिवेशः सामान्येनोदाहरणम् । सा च वासना द्विविधा मलिना शुद्धा च । शुद्धा दैवी संपत्, शास्त्रसंस्कार-प्राबल्यात्तत्त्वज्ञानसाधनत्वेनैकरूपैव । मलिना तु त्रिविधा लोकवासना शास्त्रवासना देहवासना चेति । सर्वे जना यथा न निन्दन्ति तथैवाऽऽचरिष्यामीत्यशक्यार्थाभिनिवेशो लोकवासना । तस्याश्च को लोकमाराधयितुं समर्थ इति न्यायेन संपादयितुमशक्यत्वात्पुरुषार्थानुपयोगित्वाच्च मलिनत्वम् । शास्त्रवासना तु त्रिविधा पाठव्यसनं बहुशास्त्रव्यसनमनुष्ठानव्यसनं चेति क्रमेण भरद्वाजस्य दुर्वाससो निदाघस्य च प्रसिद्धा । मलिनत्वं चास्याः क्लेशावहत्वात्पुरुषार्थानुपयोगित्वाद्-पहेतुत्वाज्जन्महेतुत्वाच्च । देहवासनाऽपि त्रिविधा आत्मत्वभ्रान्तिर्गुणाधानभ्रान्तिर्दोषापनयनभ्रान्तिश्चेति । तत्राऽऽत्मत्वभ्रान्तिर्विरोचनादिषु प्रसिद्धा सार्वलौकिकी । गुणाधानं द्विविधं लौकिकं शास्त्रीयं च । समीचीनशब्दादिविषयसंपादनं लौकिकं, गङ्गास्नानशालग्रामतीर्थादिसंपादनं शास्त्रीयम् । दोषापन-यनमपि द्विविधं लौकिकं शास्त्रीयं च । चिकित्सकोक्तैरौषधैर्व्याध्यापनयनं लौकिकं, वैदिकस्नाना-

प्रारब्धकर्मसे बाधित होकर वायुयुक्त स्थानमें रखे हुए दीपकके समान मनोनाश और वासनाक्षय निवृत्त हो जाते हैं। अतः आज-कलके तत्त्वज्ञानियोंको पूर्वसिद्ध तत्त्वज्ञानके लिये तो प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु मनोनाश और वासनाक्षय प्रयत्नसाध्य रहते हैं। इनमें मनोनाशका तो असम्प्रज्ञात समाधिके निरूपण द्वारा पहले वर्णन कर दिया है, अब वासनाक्षयका निरूपण किया जाता है।

(१) वासनाका स्वरूप वसिष्ठजीने इस प्रकार कहा है—'पूर्वापरका विचार छोड़ कर दृढ भावनासे जो पदार्थका ग्रहण करना है वह 'वासना' कही जाती है।' इस विषयमें अपने-अपने देशके आचार, कुलधर्म और स्वभावभेद तथा उनमें रहनेवाले अपशब्द और सुशब्द आदिमें जो प्राणियोंका अभिनिवेश है वह सामान्यतया उदाहरण है। वह वासना दो प्रकारकी है—मलिना और शुद्ध। शुद्धा वासना दैवी सम्पद् है; शास्त्रसंस्कारकी प्रबलताके कारण तत्त्वज्ञानकी साधनरूपसे वह एक प्रकारकी ही है। किन्तु मलिनावासना लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासनाभेदसे तीन प्रकारकी है। 'जिस प्रकार सभी लोग मेरी निन्दा न करें वैसा ही आचरण करूँगा' ऐसा अशक्य विषयके लिये आग्रह होना लोक वासना है। 'लोकको प्रसन्न रखनेमें कौन समर्थ है?' इस न्यायसे उसका पूरा करना सम्भव न होनेसे तथा पुरुषार्थमें अनुपयोगी होनेसे वह मलिन मानी गयी है। शास्त्रवासना तीन प्रकारकी है—पाठव्यसन, बहुशास्त्रव्यसन और अनुष्ठानव्यसन। ये क्रमसे भरद्वाज, दुर्वासा और निदाघके प्रसिद्ध हैं। क्लेशप्रद, पुरुषार्थमें अनुपयोगी, दर्पकी हेतु और जन्मकी कारण होनेसे इसकी मलिनता मानी गयी है। देहवासना भी तीन प्रकारकी है—आत्मत्वभ्रान्ति, गुणाधानभ्रान्ति और दोषापनयनभ्रान्ति। इनमें आत्मत्व-भ्रान्ति तो विरोचनादिमें प्रसिद्ध सभी लोगोंको होनेवाली है। गुणाधान (गुणोंका आरोप) दो प्रकारका है—लौकिक और शास्त्रीय। सुन्दर शब्दादि विषयोंका सम्पादन करना लौकिक गुणाधान है तथा गङ्गास्नान, शालग्राम और तीर्थादिका सम्पादन करना शास्त्रीय गुणाधान है। दोषापनयन (दोषोंको दूर करना) भी लौकिक और शास्त्रीय दो प्रकारका है। चिकित्सककी बतायी हुई ओषधियोंसे व्याधि आदिको दूर करना लौकिक दोषापनयन है तथा वैदिक स्नान-आचमन आदिसे अशौचादिको दूर करना वैदिक (शास्त्रीय) दोषाप-

चमनादिभिरशौचाद्यपनयनं वैदिकम् । एतस्याश्च सर्वप्रकारायाः मलिनत्वमप्रामाणिकत्वादशक्य-त्वात्पुरुषार्थानुपयोगित्वात्पुनर्जन्महेतुत्वाच्च शास्त्रे प्रसिद्धम् । तदेतल्लोकशास्त्रदेहवासनात्रयमविवेकि-नामुपादेयत्वेन प्रतिभासमानमपि विविदिषोर्वेदनोत्पत्तिविरोधित्वाद्विदुषो ज्ञाननिष्ठाविरोधित्वाच्च विवेकिभिर्हेयम् ।

(१) तदेवं बाह्यविषयवासना त्रिविधा निरूपिता । आभ्यन्तरवासना तु कामक्रोधदम्भ-दर्पाद्यासुरसंपद्रूपा सर्वानर्थमूलं मानसी वासनेत्युच्यते । तदेवं बाह्याभ्यन्तरवासनाचतुष्टयस्य शुद्धवासनया क्षयः संपादनीयः । तदुक्तं वसिष्ठेन—

'मानसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासनाः । मैत्र्यादिवासना राम गृहाणामलवासनाः ॥' इति ।

तत्र विषयवासनाशब्देन पूर्वोक्तास्तिस्रो लोकशास्त्रदेहवासना विवक्षिताः । मानसवासना-शब्देन कामक्रोधदम्भदर्पाद्यासुरसंपद्विवक्षिता । यद्वा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा विषयाः । तेषां भुज्यमानत्वदशाजन्यः संस्कारो विषयवासना । काम्यमानत्वदशाजन्यः संस्कारो मानसवासना । अस्मिन्पक्षे पूर्वोक्तानां चतसृणामनयोरेवान्तर्भावः, बाह्याभ्यन्तरव्यतिरेकेण वासनान्तरासंभवात् । तासां वासनानां परित्यागो नाम तद्विरुद्धमैत्र्यादिवासनोत्पादनम् । ताश्च मैत्र्यादिवासना भगवता पतञ्जलिना सूत्रिताः प्राक्संक्षेपेण व्याख्याता अपि पुनर्व्याख्यायन्ते ।

(२) चित्तं हि रागद्वेषपुण्यपापैः कलुषीक्रियते । तत्र 'सुखानुशयी रागः' मोहादनुभूयमानं सुखमनुशेते कश्चिद्बीवृत्तिविशेषो राजसः सर्वं सुखजातीयं मे भूयादिति । तच्च दृष्टादृष्टसामग्र्यभावा-

नयन है। अप्रामाणिक, अशक्य, पुरुषार्थमें अनुपयोगी और पुनर्जन्मकी हेतु होनेसे इस सभी प्रकारकी वासनाकी मलिनता शास्त्रमें प्रसिद्ध है। ये लोक शास्त्र और देह तीनों प्रकारकी वासनाएँ अविवेकियोंको उपादेयरूपसे भासनेपर भी जिज्ञासुके लिये ज्ञानोत्पत्तिकी विरोधी और ज्ञानीके लिये ज्ञाननिष्ठाकी विरोधी होनेसे विवेकियोंके लिये तो त्याज्य ही हैं।

(१) इस प्रकार यह तीन तरहकी बाह्य विषयवासनाका निरूपण किया गया। काम, क्रोध, दम्भ एवं दर्प आदि आसुरसम्पद्रूपा जो आभ्यन्तर वासना है वह समस्त अनर्थोंकी मूल है और मानसी वासना कही जाती है। इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर चार प्रकारकी वासनाओंका शुद्धवासनाके द्वारा क्षय करना चाहिये। यही बात वसिष्ठजीने भी कही है—'हे राम! तुम पहले मानसी वासनाओंको और विषयवासनाओंको त्यागकर मैत्रीवासना आदि शुद्धवासनाओंको ग्रहण करो।' यहाँ 'विषयवासना' शब्दसे पहले कही हुई लोक शास्त्र और देहवासना ये तीनों विवक्षित हैं। 'मानस वासना' शब्दसे काम क्रोध दम्भ एवं दर्प आदि आसुर सम्पद् विवक्षित है। अथवा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध आदि जो विषय हैं उनकी भोगावस्थासे होनेवाला संस्कार 'विषयवासना' है तथा केवल कामनाकी दशासे होनेवाला संस्कार 'मानस-वासना' है। इस पक्षमें पूर्वोक्त चारों वास-नाओंका इन दोनोंहीमें अन्तर्भाव है, क्योंकि बाहर और भीतरकी वासनाओंके सिवा किन्हीं दूसरी वासनाओंका होना असम्भव है। उन वासनाओंका त्याग उनके विरुद्ध मैत्री आदि वासनाओंको उत्पन्न करना ही है। महर्षि पतञ्जलि द्वारा सूत्रबद्ध की हुई उन मैत्री आदि वासनाओंकी पहले संक्षेपसे व्याख्या की जा चुकी है, फिर भी यहाँ उनका पुनः व्याख्यान किया जाता है।

(२) चित्त राग-द्वेष और पुण्य-पाप से ही मलिन होता है। इनमें 'सुखानुशयी रागः' अर्थात् अनुभव होते हुए सुखमें जो मोहसे कोई ऐसी रजोगुणी बुद्धिवृत्ति विशेष

त्संपादयितुमशक्यम्। अतः स रागश्चित्तं कलुषीकरोति। यदा तु सुखिषु प्राणिष्वयं मैत्रीं भावयेत्सर्वेऽप्येते सुखिनो मदीया इति तदा तत्सुखं स्वकीयमेव संपन्नमिति भावयतस्तत्र रागो निवर्तते। यथा स्वस्य राज्यनिवृत्तावपि पुत्रादिराज्यमेव स्वकीयं राज्यं तद्वत्। निवृत्ते च रागे वर्षाव्यपाये जलमिव चित्तं प्रसीदति। तथा 'दुःखानुशयी द्वेषः' दुःखमनुशेते कश्चिद्धीवृत्तिविशेष-स्तमोनुगतरजःपरिणाम ईदृशं सर्वं दुःखं सर्वदा मे मा भूदिति। तच्च शत्रुव्याघ्रादिषु सत्सु न निवारयितुं शक्यम्। न च सर्वे ते दुःखहेतवो हन्तुं शक्यन्ते। अतः स द्वेषः सदा हृदयं दहति। यदा तु स्वस्येव परेषां सर्वेषामपि दुःखं मा भूदिति करुणां दुःखिषु भावयेत्तदा वैर्याद्विद्वेषनिवृत्तौ चित्तं प्रसीदति। तथा च स्मर्यते—

'प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥' इति।

एतदेवेहाप्युक्तम्—आत्मौपम्येन सर्वत्रेत्यादि। तथा प्राणिनः स्वभावत एव पुण्यं नानुतिष्ठन्ति पापं त्वनुतिष्ठन्ति। तदाहुः—

'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥' इति।

ते च पुण्यपापे अक्रियमाणक्रियमाणे पश्चात्तापं जनयतः। स च श्रुत्याऽनूदितः—'किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' इति। यद्यसौ पुण्यपुरुषेषु मुदितां भावयेत्तदा तद्वासनावान्स्वय-मेवाप्रमत्तोऽशुक्लकृष्णे पुण्ये प्रवर्तते। तदुक्तं 'कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' अयोगिनां त्रिविधं शुक्लं शुभं कृष्णमशुभं शुक्लकृष्णं शुभाशुभमिति। तथा पापपुरुषेषूपेक्षां भावयन्स्वयमपि

होती है कि 'मुझे सब प्रकारका सुख प्राप्त हो' वह राग है। ऐहिक और पारलौकिक सुखकी सामग्रीका अभाव होनेसे उसका सम्पादन करना अशक्य है, इसलिये वह राग चित्तको मलिन कर देता है। जब यह योगी सुखी प्राणियोंमें 'ये सारे सुखी जीव मेरे हैं' इस प्रकार मैत्रीकी भावना करता है तो वह सुख अपना ही हो जाता है, इसलिये उस भावना करनेवालेका उसमें राग नहीं रहता। जिस प्रकार अपना राज्य चला जानेपर भी 'पुत्रादिका राज्य अपना ही राज्य है' ऐसी भावना करनेवालेका राज्यमें राग नहीं रहता वैसे ही यहाँ समझना चाहिये। रागके दूर होनेपर वर्षाके बीत जानेपर जलके समान चित्त प्रसन्न हो जाता है। इसी प्रकार 'दुःखानुशयी द्वेषः'—दुःखके पीछे होनेवाली जो तमोनुगत रजोगुणकी परिणामरूपा कोई ऐसी वृत्ति विशेष है कि 'मुझे सर्वदा ही सब प्रकारके दुःखोंमेंसे कोई न हो' वह द्वेष है। किन्तु शत्रु और व्याघ्रादिके रहतेहुए इसे दूर नहीं किया जा सकता और न दुःखके सारे कारणोंको नष्ट ही किया जा सकता है। इसलिये द्वेषयुक्त पुरुषका हृदय सर्वदा जलता रहता है। किन्तु जब अपने समान 'और सबको भी दुःख न हो' इस प्रकार दुःखी जीवोंके लिये करुणाकी भावना करता है तो वैरी आदिके प्रति द्वेषकी निवृत्ति हो जानेसे चित्त प्रसन्न हो जाता है। ऐसा ही स्मृति भी कहती है—'जिस प्रकार अपनेको प्राण अभीष्ट हैं वैसे ही वे दूसरे प्राणियोंको भी हैं। इसलिये साधु-पुरुष अपने ही समान सब प्राणियोंपर दया करते हैं।' यहाँ भी 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' इससे यही बात कही गयी है। तथा प्राणी स्वभावसे ही पुण्यका अनुष्ठान नहीं करते, पाप ही करते हैं, जैसा कि कहा है—'लोग पुण्यका फल तो चाहते हैं, किन्तु पुण्य करना नहीं चाहते तथा पापका फल नहीं चाहते और करते रहते हैं प्रयत्नपूर्वक पाप ही।' ये पाप और पुण्य किये जाने तथा न किये जानेपर पश्चात्ताप उत्पन्न करते हैं। इसका श्रुतिने भी अनु-

तद्वासनावान्पापान्निवर्तते। ततश्च पुण्याकरणपापकरणनिमित्तस्य पश्चात्तापस्याभावे चित्तं प्रसीदति। एवं सुखिषु मैत्रीं भावयतो न केवलं रागो निवर्तते किं त्वसूयेर्ष्यादयोऽपि निवर्तन्ते। परगुणेषु दोषाविष्करणमसूया। परगुणानामसहनमीर्ष्या। यदा मैत्रीवशात्परसुखं स्वीयमेव संपन्नं तदा परगुणेषु कथमसूयादिकं संभवेत्। तथा दुःखिषु करुणां भावयतः शत्रुवधादिकरो द्वेषो यदा निवर्तते तदा दुःखित्वप्रतियोगिकस्वसुखित्वप्रयुक्तदर्पोऽपि निवर्तते। एवं दोषान्तरनिवृत्तिरप्यूहनीया वासिष्ठरामायणादिषु।

(१) तदेवं तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षयश्चेति त्रयमभ्यसनीयम्। तत्र केनापि द्वारेण पुनः पुनस्तत्त्वानुस्मरणं तत्त्वज्ञानाभ्यासः। तदुक्तम्—

'तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा। इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम्॥' इति।

दृश्यावभासविरोधियोगाभ्यासो मनोनिरोधाभ्यासः। तदुक्तम्—

'अत्यन्ताभावसंपत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये तेऽप्यत्राभ्यासिनः स्थिताः॥' इति।

वाद किया है—'मैंने पुण्य क्यों नहीं किया, पाप क्यों किया?' इत्यादि। यदि यह पुण्यवान् पुरुषोंके प्रति मुदिताकी भावना करे तो उसकी वासनासे युक्त होकर स्वयं भी सावधान होकर अशुक्लकृष्ण पुण्यमें प्रवृत्त हो। कहा भी है—'योगीका कर्म अशुक्लकृष्ण होता है तथा दूसरोंके कर्म तीन प्रकारके होते हैं।' अयोगियोंके कर्म शुक्ल—शुभ, कृष्ण—अशुभ और शुक्लकृष्ण—शुभाशुभ इस तरह तीन प्रकारके होते हैं। इसी प्रकार पापी पुरुषोंके प्रति उपेक्षाकी भावना करनेसे स्वयं भी उस वासनासे युक्त होकर पापसे दूर रहता है। तब पुण्य न करने और पाप करनेसे होनेवाले पश्चात्तापका अभाव होनेसे चित्त प्रसन्न हो जाता है। इस तरह सुखी प्राणियोंके प्रति मैत्रीकी भावना करनेवालेका केवल राग ही निवृत्त नहीं होता, किन्तु असूया और ईर्ष्या आदि भी दूर हो जाते हैं। दूसरेके गुणोंमें दोष देखना 'असूया' है तथा दूसरेके गुणोंको सह न सकना 'ईर्ष्या' है। जब मैत्रीके कारण दूसरेका सुख अपना ही हो जाता है तो दूसरेके गुणोंमें असूया आदि कैसे हो सकते हैं? तथा दुखियोंमें करुणाकी भावना करनेवालेका जब शत्रु आदिका वध करनेवाला द्वेष दूर हो जाता है तो दुखित्वके विरोधी अपने सुखीपनसे होनेवाला दर्प भी निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार वासिष्ठ, रामायण आदि ग्रन्थोंमें दूसरे दोषोंकी निवृत्तिका भी अनुमान कर लेना चाहिये।

(१) इस प्रकार तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय इन तीनोंका अभ्यास करना चाहिये। सो किसी भी प्रकार बार-बार तत्त्वका स्मरण करते रहना तो तत्त्वज्ञानका अभ्यास है; जैसा कि योगवासिष्ठमें कहा है—'उस ब्रह्मका चिन्तन करना, उसीकी चर्चा करना और एक—दूसरेसे उसीके विषयमें प्रश्नोत्तर करना—ऐसी जो एकमात्र ब्रह्मपरायणता है इसे पण्डितजन ब्रह्माभ्यास मानते हैं। 'सृष्टि आरम्भमें ही नहीं हुई, तथा यह जगत् और इसका ज्ञाता मैं—यह दृश्य कभी है ही नहीं' इसे वे श्रेष्ठ बोधाभ्यास मानते हैं।' दृश्यप्रतीतिके विरोधी योगका अभ्यास मनोनाशका अभ्यास है; जैसा कि कहा है—'ज्ञाताके लिये ज्ञेय पदार्थके अत्यन्ताभावकी सम्पत्ति (सिद्धि) के लिये जो लोग मुक्ति (योग) और शास्त्रोंसे यत्न करते हैं वे ही इसमें अभ्यासी माने गये हैं।' ज्ञाता और ज्ञेयके विषयमें मिथ्यात्व बुद्धि होना अभावसम्पत्ति है और उनकी स्वरूपसे अप्रतीति अत्यन्ता-

ज्ञातृज्ञेययोर्मिथ्यात्वधीरभावसंपत्तिः । स्वरूपेणाप्यप्रतीतिरत्यन्ताभावसंपत्तिस्तदर्थम् । युक्त्या योगेन ।

'दृश्यासंभववोधेन रागद्वेषादितानवे । रतिर्बनोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते ॥'

इति रागद्वेषादिक्षीणतारूपवासनाक्षयाभ्यास उक्तः । तस्मादुपपन्नमेतत्तत्त्वज्ञानाभ्यासेन मनोनाशाभ्यासेन वासनाक्षयाभ्यासेन च रागद्वेषशून्यतया यः स्वपरसुखदुःखादिषु समदृष्टिः स परमो योगी मतो यस्तु विषमदृष्टिः स तत्त्वज्ञानवानप्यपरमो योगीति ॥ ३२ ॥

(१) उक्तमर्थमाक्षिपन्—

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥

(२) योऽयं सर्वत्रसमदृष्टिलक्षणः परमो योगः साम्येन समत्वेन चित्तगतानां रागद्वेषादीनां विषमदृष्टिहेतूनां निराकरणेन त्वया सर्वज्ञेनेश्वरेणोक्तः, हे मधुसूदन सर्ववैदिकसंप्रदायप्रवर्तक, एतस्य त्वदुक्तस्य सर्वमनोवृत्तिनिरोधलक्षणस्य योगस्य स्थितिं विद्यमानतां स्थिरां दीर्घकालानुवर्तिनीं न पश्यामि न संभावयामि अहमस्मद्विधोऽन्यो वा योगाभ्यासनिपुणः । कस्मान्न संभावयसि तत्राऽऽह—चञ्चलत्वात्, मनस इति शेषः ॥ ३३ ॥

(३) सर्वलोकप्रसिद्धत्वेन तदेव चञ्चलत्वमुपपादयति—

भावसम्पत्ति है । उसके लिये युक्ति अर्थात् योगसे । द्वैतकी असम्भवताके बोधसे राग-द्वेषादिके क्षीण हो जानेपर जो घनीभूत प्रेम प्रकट होता है वह ब्रह्माभ्यास कहा जाता है' इस प्रकार राग-द्वेषकी क्षीणतारूप वासनाक्षयका अभ्यास कहा गया है । इसलिये यह कहना उचित ही है कि तत्त्वज्ञानके अभ्यास, मनोनाशके अभ्यास और वासनाक्षयके अभ्याससे राग-द्वेषशून्य होनेके कारण जिसकी अपने और पराये सुख-दुःखादिमें समान दृष्टि है वह परमयोगी माना गया है और जिसकी समान दृष्टि नहीं है वह तत्त्वज्ञानवान् होनेपर भी अपरमयोगी है ॥ ३२ ॥

(१) उपर्युक्त अर्थमें शंका करते हुए—

[श्लोकार्थः—अर्जुनने कहा—मधुसूदन ! आपने समताके द्वारा जो यह सर्वत्र समदृष्टिरूप योग कहा है, अपने मनकी चञ्चलताके कारण इसकी मुझे स्थिर स्थिति दिखायी नहीं देती ॥ ३३ ॥]

(२) आप सर्वज्ञ ईश्वरने साम्यसे—समताके द्वारा अर्थात् अपने चित्तमें रहनेवाले विषय दृष्टिके हेतुभूत राग-द्वेषादिके निराकरणद्वारा जो यह सर्वत्र समदृष्टिरूप परमयोग कहा है, हे मधुसूदन—समस्त वैदिक सम्प्रदायोंके प्रवर्तक ! आपके कहे हुए समस्त मनोवृत्तियोंके निरोधरूप इस योगकी मैं स्थिर—दीर्घकालतक रहनेवाली स्थिति—विद्यमानता नहीं देखता अर्थात् मैं अथवा मेरा-जैसा कोई दूसरा योगाभ्यासकुशल उसकी सम्भावना नहीं करता । ऐसी सम्भावना क्यों नहीं करता ?—इस पर कहते हैं 'मनकी चञ्चलताके कारण ।' यहाँ 'मनसः' इस पदका अध्याहार करना चाहिये ॥ ३३ ॥

(३) उसी चञ्चलताको अब समस्त लोकमें प्रसिद्धरूपसे सिद्ध करते हैं—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

(१) चञ्चलमत्यर्थं चलं सदा चलनस्वभावं मनः, हि प्रसिद्धमेवैतत् । भक्तानां पापादि-दोषान्सर्वथा निवारयितुमशक्यानपि कृषति निवारयति तेषामेव सर्वथा प्राप्तुमशक्यानपि पुरुषार्थान्-कर्षति प्रापयतीति वा कृष्णः । तेन रूपेण संबोधयन्दुर्निवारमपि चित्तचाञ्चल्यं निवार्य दुष्प्रापमपि समाधिसुखं त्वमेव प्रापयितुं शक्नोषीति सूचयति । न केवलमत्यर्थं चञ्चलं किं तु प्रमाथि, शरीरमिन्द्रि-याणि च प्रमथितुं क्षोभयितुं शीलं यस्य तत्, क्षोभकतया शरीरेन्द्रियसंघातस्य विवशताहेतुरित्यर्थः । किं च बलवत्, अभिप्रेताद्विषयात्केनाप्युपायेन निवारयितुमशक्यम् । किं च दृढं विषयवासना-सहस्रानुस्यूततया भेत्तुमशक्यम्, तन्तुनागवदच्छेद्यमिति भाष्ये । तन्तुनागो नागपाशः । 'तान्तनी'ति गुर्जरादौ प्रसिद्धो महाद्रदनिवासी जन्तुविशेषो वा । तस्यातिदृढतया बलवतो बलवत्तया प्रमाथिनः प्रमाथितयाऽतिचञ्चलस्य महामत्तवनगजस्येव मनसो निग्रहं निरोधं निर्वृत्तिकतयाऽवस्थानं सुदुष्करं सर्वथा कर्तुमशक्यमहं मन्ये, वायोरिव । यथाऽऽकाशे दोह्यमानस्य वायोर्निश्चलत्वं संपाद्य निरोधनमशक्यं तद्वदित्यर्थः ।

(२) अयं भावः—जातेऽपि तत्त्वज्ञाने प्रारब्धकर्मभोगाय जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्व-सुखदुःखरागद्वेषादिलक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशहेतुत्वाद्बाधितानुवृत्त्याऽपि बन्धो भवति । चित्तवृत्तिनिरोधरूपेण

[श्लोकार्थः—श्रीकृष्ण ! मन बड़ा चञ्चल है, यह शरीर और इन्द्रियोंको क्षुभित करनेवाला बलवान् और दृढ़ है । इसे रोकना तो मैं वायुको रोकनेके समान बहुत दुष्कर समझता हूँ ॥ ३४]

(१) मन चञ्चल—अत्यन्त चल अर्थात् सर्वदा चलनस्वभाववाला है 'हि'—यह प्रसिद्ध ही है । कृष्ण उसे कहते हैं जो भक्तोंके सर्वदा निवारणके अयोग्य पापादि दोषोंका कर्षण—निवारण करते हैं तथा उन्हींके प्राप्त होनेमें भी अशक्य पुरुषार्थोंका आकर्षण—प्राप्ति करा देते हैं अतः इस प्रकार सम्बोधन करके यह सूचित करते हैं कि आप ही दुर्निवार होनेपर भी चित्तकी चञ्चलताको दूर करके दुष्प्राप्य समाधिसुखको भी प्राप्त करा सकते हैं । यह केवल अत्यन्त चञ्चल ही नहीं है, अपि तु प्रमाथि—शरीर और इन्द्रियोंको प्रमथित—क्षुभित करनेका स्वभाव है जिसका ऐसा है । तात्पर्य यह है कि क्षोभकरूपसे यह शरीर और इन्द्रियसंघातकी विवशताका कारण है । तथा बलवान् अर्थात् अभिमत विषयसे किसी भी उपायद्वारा निवारण करनेमें अशक्य है । एवं दृढ—सहस्रों विषयवास-नाओंसे अनुस्यूत होनेके कारण भेदन करनेमें अशक्य है । भाष्यमें कहा है—'तन्तुनाग-वदच्छेद्यम्' (तन्तुनागके समान अच्छेद्य) 'तन्तुनाग' नागपाश या गुजरात आदि देशोंमें प्रसिद्ध गम्भीर तालमें रहनेवाला 'तान्तनी' नामका एक जीवविशेष है । अति दृढ़ होनेके कारण बलवान्, बलवान् होनेके कारण प्रमाथि और प्रमाथि होनेके कारण अत्यन्त चञ्चल तथा वनमें रहनेवाले महामदोन्मत्त गजराजके समान मनका निग्रह—निरोध अर्थात् वृत्तिशून्यरूपसे स्थिर करना मैं दुष्कर—करनेमें सर्वथा अशक्य मानता हूँ । वायुके समान अर्थात् जिस प्रकार आकाशमें बहते हुए वायु की निश्चलता करके उसे रोकना सम्भव नहीं है वैसे ही मैं मन को रोकना भी असम्भव मानता हूँ—ऐसा इसका अर्थ है ।

(२) भाव यह है कि तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मोंके भोगके लिए जीवित रहनेवाले पुरुषका कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख एवं राग-द्वेषरूप चित्तका धर्म

तु योगेन तस्य निवारणं जीवन्मुक्तिरित्युच्यते। यस्याः संपादनेन स योगी परमो मत इत्युक्तम्। तत्रेदमुच्यते—बन्धः किं साक्षिणो निवार्यते किं वा चित्तात्, नाऽऽद्यस्तत्त्वज्ञानेनैव साक्षिणो बन्धस्य निवारितत्वात्। न द्वितीयः स्वभावविपर्ययायोगात्, विरोधिसद्भावाच्च। न हि जलादार्द्रत्वमग्नेर्वोष्णत्वं निवारयितुं शक्यते 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः' इतिन्यायेन प्रतिक्षणपरिणामस्वभावत्वाच्चित्तस्य प्रारब्धभोगेन च कर्मणा कृत्स्नाविद्यातत्कार्यनाशने प्रवृत्तस्य तत्त्वज्ञानस्यापि प्रतिबन्धं कृत्वा स्वफलदानाय देहेन्द्रियादिकमवस्थापितम्। न च कर्मणा स्वफलसुखदुःखादिभोगश्चित्तवृत्तिभिर्विना संपादयितुं शक्यते। तस्माद्यद्यपि स्वाभाविकानामपि चित्तपरिणामानां कथंचिद्योगेनाभिभवः शक्येत कर्तुं तथाऽपि तत्त्वज्ञानादिव योगादपि प्रारब्धफलस्य कर्मणः प्राबल्यादवश्यंभाविनि चित्तस्य चाञ्चल्ये योगेन तन्निवारणमशक्यमहं स्वबोधादेव मन्ये। तस्मादनुपपन्नमेतदात्मौपम्येन सर्वत्र समदर्शी परमो योगी मत इत्यर्जुनस्याऽऽक्षेपः ॥ ३४ ॥

(१) तमिममाक्षेपं परिहरन्—

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

क्लेशका कारण होनेसे, बाधितानुवृत्तिसे भी, बन्धनरूप रह जाता है। चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगसे उसे निवृत्त करना जीवनमुक्ति कहा जाता है, जिसका सम्पादन करनेसे ही 'स योगी परमो मतः' ऐसा कहा है। इस विषय में कहना यह है—'बन्धन साक्षीसे दूर किया जाता है या चित्तसे?' पहला पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि साक्षीका बन्धन तो तत्त्वज्ञानसे ही दूर हो जता है; दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता, क्यों कि स्वभावसे विपरीत होना सम्भव नहीं है और विरोधीकी भी सत्ता विद्यमान रहती ही है।[1] जलसे गीलापन और अग्निसे उष्णताकी निवृत्ति नहीं की जा सकती। 'चिति शक्तिके सिवा और सब पदार्थ प्रतिक्षण बदलते रहने वाले हैं' इस न्यायसे चित्त भी प्रतिक्षण बदलते रहनेके स्वभाववाला है। तथा प्रारब्धभोगरूप कर्म सम्पूर्ण अविद्या और उसके कार्यके नाश करने में प्रवृत्त हुए तत्त्वज्ञानका भी प्रतिबन्ध करके अपना फल देनेके लिए देह और इन्द्रिय आदिको शेष रखता है। कर्म अपने फल सुख-दुःखादि भोगको चित्तकी वृत्तियोंके बिना पूरा नहीं कर सकता। अतः यद्यपि स्वाभाविक चित्त-परिणामोंको भी किसी प्रकार योगके द्वारा दबाया जा सकता है तो भी जिसका फलभोग प्रारम्भ हो गया है वह कर्म जैसे तत्त्वज्ञानसे प्रबल है वैसे ही योगसे भी प्रबल है। अतः उसके कारण अवश्य होनेवाली जो चित्तकी चञ्चलता है उसे योगसे निवारण करना भी मैं आत्मज्ञानके समान ही अशक्य समझता हूँ। अतः 'अपने दृष्टान्तसे सर्वत्र समान देखनेवाला परम योगी माना गया है' यह कहना ठीक नहीं है—ऐसी अर्जुनकी शंका है ॥ ३४ ॥

(१) उस इस शंकाका परिहार करते हुए—

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान् बोले—महाबाहो ! मन निःसन्देह कठिनतासे वश में होने

[1] तात्पर्य यह है कि चञ्चलता चित्तका स्वभाव है, इसलिये उसकी सर्वथा निवृत्ति नहीं हो सकती तथा देह की स्थितिपर्यन्त प्रारब्ध कर्म भी शेष रहता ही है, वह भी चित्त की वृत्तिशून्य अवस्थाका विरोधी ही है, क्योंकि उसके भोगके लिये भी व्युत्थानरूप चित्तकी वृत्तियुक्त अवस्था ही अपेक्षित है।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

(१) सम्यग्विदितं ते चित्तचेष्टितं मनो निग्रहीतुं शक्ष्यसीति संतोषेण संबोधयति हे महाबाहो महान्तौ साक्षान्महादेवेनापि सह कृतप्रहरणौ बाहू यस्येति निरतिशयमुत्कर्षं सूचयति। प्रारब्धकर्मप्राबल्यादसंयतात्मना दुर्निग्रहं दुःखेनापि निग्रहीतुमशक्यम्। प्रमाथि बलवद्दृढमिति विशेषणत्रयं पिण्डीकृत्यैतदुक्तम्। चलं स्वभावचञ्चलं मन इत्यसंशयं नास्त्येव संशयोऽत्र सत्यमेवैतदुक्तवानसीत्यर्थः। एवं सत्यपि संयतात्मना समाधिमात्रोपायेन योगिनाऽभ्यासेन वैराग्येण च गृह्यते निगृह्यते सर्ववृत्तिशून्यं क्रियते तन्मन इत्यर्थः। अनिग्रहीतुरसंयतात्मनः सकाशात्संयतात्मनो निग्रहीतुर्विशेषद्योतनाय तुशब्दः। मनोनिग्रहेऽभ्यासवैराग्ययोः समुच्चयबोधनाय चशब्दः। हे कौन्तेयेति पितृष्वसृपुत्रस्वमवश्यं मया सुखी कर्तव्य इति स्नेहसंबन्धसूचनेनाऽऽश्वासयति। अत्र प्रथमार्धेन चित्तस्य हठनिग्रहो न संभवतीति द्वितीयार्धेन तु क्रमनिग्रहः संभवतीत्युक्तम्।

(२) द्विविधो हि मनसो निग्रहः—हठेन क्रमेण च। तत्र चक्षुःश्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादीनि कर्मेन्द्रियाणि च तद्गोलकमात्रोपरोधेन हठान्निगृह्यन्ते। तद्दृष्टान्तेन मनोऽपि हठेन निग्रहीष्यामीति मूढस्य भ्रान्तिर्भवति। न च तथा निग्रहीतुं शक्यते तद्गोलकस्य हृदयकमलस्य निरोद्धुमशक्यत्वात्। अत एव च क्रमनिग्रह एव युक्तस्तदेतद्भगवान्वसिष्ठ आह—

वाला और चञ्चल है, किन्तु कुन्तिनन्दन ! अभ्यास और वैराग्यसे यह वश में हो सकता है ॥ ३५ ॥]

(१) तुम्हें चित्तकी चेष्टाओंका अच्छा ज्ञान है, इसलिये तुम इसका निग्रह कर सकोगे— इस प्रकार सन्तोष मानकर भगवान् सम्बोधन करते हैं—'हे महाबाहो !' अर्थात् जिसकी बाहुएँ महान्—साक्षात् महादेवजीके साथ भी शस्त्र उठानेवाली हैं, इस प्रकार अर्जुनका निरतिशय उत्कर्ष सूचित करते हैं। प्रारब्ध कर्मकी प्रबलतासे अजितेन्द्रिय पुरुषके लिये दुर्निग्रह—दुःखसे भी निग्रह करना अशक्य है। यह बात 'प्रमाथि' 'बलवत्' और 'दृढम्' इन तीनों विशेषणोंको मिलाकर कही है। मन चल—स्वभाव से ही चञ्चल है—यह असंशय है अर्थात् इसमें संशय नहीं है; तात्पर्य यह है कि तुम यह ठीक ही कहते हो। ऐसा होने पर भी जितेन्द्रिय अर्थात् समाधिमात्र ही जिसके पास उपाय है उस भोगी के द्वारा अभ्यास और वैराग्यसे यह मन गृहीत—निगृहीत अर्थात् सर्ववृत्तिशून्य किया जा सकता है—ऐसा इसका तात्पर्य है। मनका निग्रह न करनेवाले अजितेन्द्रिय पुरुषसे उसका निग्रह करनेवाले जितेन्द्रियकी विशेषता दिखानेके लिये 'तु' शब्द है तथा मन के निग्रहमें अभ्यास और वैराग्यका समुच्चय सूचित करनेके लिये 'च' शब्द है। 'हे कौन्तेय !' इससे 'तुम मेरी फूफीके पुत्र हो, इसलिये मुझे तुम्हें अवश्य सुखी करना चाहिये' इस प्रकार स्नेह सम्बन्धकी सूचना देकर आश्वासन देते हैं। यहाँ प्रथम श्लोकार्धसे यह दिखाया है कि चित्तका हठपूर्वक निग्रह नहीं हो सकता तथा द्वितीय श्लोकार्धसे यह कहा है कि क्रमशः उसका निग्रह हो सकता है।

(२) मनका निग्रह दो प्रकारसे होता है—हठसे और क्रमसे। सो जैसे नेत्र एवं श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक् एवं पाणि आदि कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकमें ही रोक देनेसे हठपूर्वक वशमें हो जाती हैं उन्हींके दृष्टान्तसे मैं मनको भी हठपूर्वक अपने वशमें कर लूँगा—ऐसी मूढ पुरुषको भ्रान्ति होती है। किन्तु इस प्रकार उसका निग्रह हो नहीं सकता, क्योंकि उसके गोलक हृदय कमलका निरोध करना सम्भव नहीं है। इसलिये

'उपविश्योपविश्यैव चित्तज्ञेन मुहुर्मुहुः। न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥
अङ्कुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः। अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ॥
वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्। एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये। चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः' इति ॥

(१) क्रमनिग्रहे चाध्यात्मविद्याधिगम एक उपायः। सा हि दृश्यस्य मिथ्यात्वं दृग्वस्तुनश्च परमार्थसत्यपरमानन्दस्वप्रकाशत्वं बोधयति। तथा च सत्येतन्मनः स्वगोचरेषु दृश्येषु मिथ्यात्वेन प्रयोजनाभावं प्रयोजनवति च परमार्थसत्यपरमानन्दरूपे दृग्वस्तुनि स्वप्रकाशत्वेन स्वागोचरत्वं बुद्ध्वा निरिन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति। यस्तु बोधितमपि तत्त्वं न सम्यग्बुध्यते यो वा विस्मरति तयोः साधुसंगम एवोपायः। साधवो हि पुनः पुनर्बोधयन्ति स्मारयन्ति च। यस्तु विद्यामादिदुर्वासनया पीड्यमानो न साधूननुवर्तितुमुत्सहते तस्य पूर्वोक्तविवेकेन वासनापरित्याग एवोपायः। यस्तु वासनानामतिप्राबल्यात्तास्त्यक्तुं न शक्नोति तस्य प्राणस्पन्दनिरोध एव उपायः। प्राणस्पन्दवासनयोश्चित्तप्रेरकत्वात्तयोर्निरोधे चित्तशान्तिरूपपद्यते। तदेतदाह स एव—

'द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने। एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥
प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया। आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥

उसका क्रमनिग्रह ही उचित है। यही बात भगवान् वसिष्ठने भी कही है—'जिस प्रकार मतवाले और दुष्ट हाथीको अंकुशके बिना वशमें नहीं किया जा सकता उसी प्रकार चित्तके स्वरूपको जाननेवाले पुरुषसे उत्तम युक्तिके बिना केवल बार-बार बैठनेसे ही मनको जीता नहीं जा सकता। अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति, साधु पुरुषोंका समागम, वासनाओंका परित्याग और प्राणस्पन्दका निरोध—यह चित्तको जीतनेमें प्रबल युक्तियाँ हैं। इन युक्तियोंके रहते हुए भी जो हठपूर्वक चित्तको रोकते हैं वे मानो दीपकको छोड़कर कज्जलसे अन्धकार को नष्ट करना चाहते हैं।'

(१) इस प्रकार क्रमनिग्रहमें एक उपाय तो अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति है, क्योंकि वह दृश्यके मिथ्यात्व और दृग्वस्तुके वास्तविक सत्यत्व, परमानन्दत्व और स्वप्रकाशत्वका ज्ञान कराती है। ऐसा होनेपर यह मन अपने विषयभूत दृश्योंमें, उनका मिथ्यात्व होनेके कारण प्रयोजनका अभाव और प्रयोजनवाली परमार्थ-सत्य परमानन्दस्वरूप दृग्वस्तुमें अपने द्वारा प्रकाशित न होनेके कारण अपनी अविषयता जानकर काष्ठहीन अग्निके समान स्वयं ही शान्त हो जाता है। जो समझाये हुए तत्त्वको भी ठीक-ठीक नहीं समझ पाता तथा जो उसे भूल जाता है उन दोनों के लिये साधुसमागम ही उपाय है, क्योंकि साधुजन बार-बार उसे समझाते और उसका स्मरण कराते रहते हैं। किन्तु जो ज्ञानाभिमान आदि दुर्वासनासे पीडित (ग्रस्त) रहनेके कारण साधुजनोंका अनुवर्तन करनेका साहस नहीं करता उसके लिये पूर्वोक्त विवेकके द्वारा वासनाओंका त्याग ही उपाय है। तथा वासनाओं की अत्यन्त प्रबलता होनेके कारण जो उन्हें त्याग नहीं सकता उसके लिये प्राणकी गतिको रोकना ही उपाय है। प्राणस्पन्द और वासना चित्तके प्रेरक हैं, अतः उनका निरोध होनेपर चित्तकी शान्ति सम्भव ही है। वसिष्ठजी ही इस विषय में ऐसा कहते हैं—'प्राणस्पन्द और वासना—ये चित्तरूपी वृक्षके दो बीज हैं, इनमेंसे एकका क्षय होने पर तत्काल दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। प्राणायामके दृढ अभ्याससे गुरुकी दी हुई युक्तिसे तथा आसन और भोजनके संयमसे प्राणस्पन्दका निरोध होता है। एवं असंग व्यवहार, संसारकी भावनाके त्याग और शरीरका नाश देखनेके स्वभावसे वासनाकी प्रवृत्ति नहीं

असङ्गव्यवहारित्वाद्भावभावनवर्जनात्। शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥
वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम्। प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥
एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव। यद्भावनं वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च ॥
यदा न भाव्यते किंचिद्धेयोपादेयरूपि यत्। स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः। अमनस्तां तदोदेति परमात्मपदप्रदा ॥' इति।

(१) अत्र द्वावेवोपायौ पर्यवसितौ प्राणस्पन्दनिरोधार्थमभ्यासः, वासनापरित्यागार्थं च वैराग्यमिति। साधुसङ्गमाध्यात्मविद्याधिगमौ स्वभ्यासवैराग्योपपादकतयाऽन्यथासिद्धौ तयोरेवान्तर्भवतः। अत एव भगवताऽभ्यासेन वैराग्येण चेति द्वयमेवोक्तम्। अत एव भगवान्पतञ्जलिरप्याह—'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' इति। तासां प्रागुक्तानां प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिरूपेण पञ्चविधानामनन्तानामासुरत्वेन क्लिष्टानां दैवत्वेनाक्लिष्टानामपि वृत्तीनां सर्वासामपि निरोधो निरिन्धनाग्निवदुपशमाख्यः परिणामोऽभ्यासेन वैराग्येण च समुच्चितेन भवति। तदुक्तं योगभाष्ये—चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च। तत्र या कैवल्यप्राग्भारा विवेकनिम्ना सा कल्याणवहा। या त्वविवेकनिम्ना संसारप्राग्भारा सा पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिली क्रियते। विवेकदर्शनाभ्यासेन च कल्याणस्रोत उद्घाट्यते, इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोध इति। प्राग्भारनिम्नपदे 'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' इत्यत्र व्याख्यायते। यथा तीव्रवेगोपेतं

होती। वासनाके सम्यक् परित्यागसे और प्राणस्पन्दके निरोधसे चित्त अचित्तताको प्राप्त हो जाता है, अतः इसमेंसे जिसे करना चाहो वही करो। रघुनाथजी! मनमें वस्तुकी वस्तुरूपसे और रसरूपसे जो भावना करनी है इसीको मैं चित्तका स्वरूप समझता हूँ। जो कुछ हेय या उपादेयरूप है उसकी जब भावना नहीं की जाती तो सबको छोड़कर चित्त स्थित हो जाता है और फिर उसका उदय नहीं होता। जब निरन्तर वासनाहीन रहनेके कारण मन मनन नहीं करता तो परमात्मपदको देनेवाली अमनस्तताका उदय होता है।'

(१) इस प्रकार प्राणस्पन्दनिरोधके लिये अभ्यास और वासनाओंके परित्यागके लिये वैराग्य ये दो ही उपाय निश्चित होते हैं। साधुसंगम और आध्यात्मविद्याकी प्राप्ति तो अभ्यास और वैराग्यके ही साधक होनेसे अन्यथासिद्ध हैं और उन्हींके अन्तर्गत हैं। इसीसे भगवान्‌ने 'अभ्याससे और वैराग्यसे' इस प्रकार दो ही उपाय कहे हैं। अतएव भगवान् पतञ्जलिने भी सूत्रद्वारा कहा है—'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः'—उन पहले कही हुई प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा और स्मृतिरूपसे पाँच प्रकार की तथा आसुरभावसे अनन्त क्लिष्ट और दैवभावसे अनन्त अक्लिष्ट वृत्तियोंमेंसे सभीका निरोध—काष्ठशून्य अग्निके समान उपशमसंज्ञक परिणाम अभ्यास और वैराग्य इनके समुच्चयसे होता है। इस विषयमें योगभाष्यमें ऐसा कहा है—'चित्त नामकी नदी दोनों ओर बहनेवाली है। वह कल्याणके लिये भी बहती है और पापके लिये भी। उसकी जो धारा कैवल्यरूप उच्चस्थानकी ओरसे विवेकरूप निम्नप्रदेशकी ओर जाती है वह कल्याणकी ओर बहनेवाली है तथा जो अविवेकरूप निम्नप्रदेश और संसाररूप ऊँचे प्रदेशवाली है वह पापकी ओर बहती है। सो वैराग्यद्वारा उसके विषयकी ओर जानेवाले प्रवाहको बाँध दिया जाता है तथा विवेकदर्शनके अभ्याससे कल्याणवाही स्रोत खोल दिया जाता है। इस प्रकार चित्तकी वृत्तियोंका निरोध [अभ्यास-वैराग्य] दोनों ही के अधीन है।' 'प्राग्भार' और 'निम्न' इन पदों की 'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' इस स्थानपर व्याख्या की गयी है। जिस प्रकार तीव्र वेगवाली नदीके प्रवाहको बाँध द्वारा रोककर उसमेंसे नहर निकालकर

नदीप्रवाहं सेतुबन्धनेन निवार्य कुल्याप्रणयनेन क्षेत्राभिमुखं तिर्यक्प्रवाहान्तरमुत्पाद्यते तथा वैराग्येण चित्तनद्या विषयप्रवाहं निवार्य समाध्यभ्यासेन प्रशान्तवाहिता संपाद्यत इति द्वारभेदात्समुच्चय एव, एकद्वारत्वे हि व्रीहियववद्विकल्पः स्यादिति ।

(१) मन्त्रजपदेवताध्यानादीनां क्रियारूपाणामावृत्तिलक्षणोऽभ्यासः संभवति । सर्वव्यापारोपरमस्य तु समाधेः को नामाभ्यास इति शङ्कां निवारयितुमभ्यासं सूत्रयति स्म 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' इति । तत्र स्वरूपावस्थिते द्रष्टरि शुद्धे चिदात्मनि चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहितारूपा निश्चलतास्थितिस्तदर्थं यत्नो मानस उत्साहः स्वभावचाञ्चल्याद्बहिष्प्रवाहशीलं चित्तं सर्वथा निरोत्स्यामीत्येवं विधः । स आवर्त्यमानोऽभ्यास उच्यते । 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' अनिर्वेदेन दीर्घकालासेवितो विच्छेदाभावेन निरन्तरासेवितः सत्कारेण श्रद्धातिशयेन चाऽऽसेवितः । सोऽभ्यासो दृढभूमिर्विषयसुखवासनया चालयितुमशक्यो भवति । अदीर्घकालत्वेदीर्घकालत्वेऽपि विच्छिद्य विच्छिद्य सेवने श्रद्धातिशयाभावे च लयविक्षेपकषायसुखास्वादानामपरिहारे व्युत्थानसंस्कारप्राबल्याद्दृढभूमिरभ्यासः फलाय न स्यादिति त्रयमुपात्तम् ।

(२) वैराग्यं तु द्विविधमपरं परं च । यतमानसंज्ञाव्यतिरेकसंज्ञैकेन्द्रियसंज्ञावशीकारसंज्ञाभेदैरपरं चतुर्धा । तत्र पूर्वभूमित्रयेणोत्तरभूमिसंपादनविवक्षया चतुर्थमेवासूत्रयत्—'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' इति । स्त्रियोऽन्नं पानमैश्वर्यमित्यादयो दृष्टा विषयाः । स्वर्गो

खेतोंकी ओर जानेवाला दूसरा तिरछा प्रवाह पैदा कर दिया जाता है वैसे ही वैराग्य द्वारा चित्तरूप नदीके विषय प्रवाहको रोककर समाधिके अभ्याससे उसकी प्रशान्तवाहिता सम्पन्न कर दी जाती है । इस प्रकार द्वार भेद होनेसे वैराग्य और अभ्यासका समुच्चय ही है, यदि एक ही द्वार होता तो धान और यवके समान उनका विकल्प होता ।

(१) 'मन्त्र जप एवं देवताका ध्यान आदि क्रियारूप साधनोंका तो बार-बार करनारूप अभ्यास हो सकता है, किन्तु सम्पूर्ण व्यापारोंकी निवृत्तिरूप समाधिका क्या अभ्यास होगा ?' इस शंकाको दूर करनेके लिए महर्षि पतञ्जलिने अभ्यासका लक्षण इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है—'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'—वहाँ अर्थात् स्वरूपावस्थित शुद्ध चिदात्मा द्रष्टामें वृत्तिशून्य चित्तकी जो प्रशान्तवाहितारूप निश्चलता—स्थिति है उसके लिये यत्न अर्थात् स्वाभाविक चञ्चलताके कारण बाहरकी ओर आनेके स्वभाववाले इस चित्तको सर्वथा रोक दूँगा—ऐसा जो मनका उत्साह है वह बार-बार किये जाने पर 'अभ्यास' कहा जाता है 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः'—बिना उकताये हुए बहुत समय तक सेवन किये जानेपर, बिना विच्छेदके लगातार सेवित होनेपर तथा सत्कार अर्थात् अतिशय श्रद्धासे सेवन करनेपर वह अभ्यास दृढभूमि अर्थात् विषयसुखकी वासनासे डिगाये जानेके अयोग्य हो जाता है । दीर्घकालतक सेवन न करनेपर दीर्घकाल होनेपर भी छोड़-छोड़ कर सेवन करनेपर तथा अत्यन्त श्रद्धा न होने पर लय विक्षेप कषाय और रसास्वाद इनका परिहार न होनेके कारण व्युत्थान संस्कारों की प्रबलताके कारण अदृढभूमि अभ्यास फल देनेवाला नहीं होता, इसलिये दीर्घकाल नैरन्तर्य और सत्कार तीनोंको ही ग्रहण किया गया है ।

(२) वैराग्य दो प्रकार का है—पर और अपर । यतमान संज्ञा, व्यतिरेकिसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा और वशीकारसंज्ञा भेदसे अपर वैराग्य चार प्रकारका है । इनमेंसे पूर्वभूमिके जयपूर्वक आगेकी भूमिको पूर्ण करनेकी विवक्षासे चौथे वशीकारसंज्ञा वैराग्यका ही सूत्रद्वारा वर्णन किया है—'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।' स्त्री

विदेहता प्रकृतिलय इत्यादयो वैदिकत्वेनाऽऽनुश्रविका विषयास्तेषूभयविधेष्वपि सत्यामेव तृष्णायां विवेकतारतम्येन यतमानादित्रयं भवति । अत्र जगति किं सारं किमसारमिति गुरुशास्त्राभ्यां ज्ञास्यामीत्युद्योगो यतमानम् । स्वचित्ते पूर्वविद्यमानदोषाणां मध्येऽभ्यस्यमानविवेकेनैते पक्वा एतेऽवशिष्टा इति चिकित्सकवद्विवेचनं व्यतिरेकः । दृष्टानुश्रविकविषयप्रवृत्तेर्दुःखात्मत्वबोधेन बहिरिन्द्रियप्रवृत्तिमजनयन्त्या अपि तृष्णाया औत्सुक्यमात्रेण मनस्यवस्थानमेकेन्द्रियम् । मनस्यपि तृष्णाशून्यत्वेन सर्वथा वैतृष्ण्यं तृष्णाविरोधिनी चित्तवृत्तिर्ज्ञानप्रसादरूपा वशीकारसंज्ञा वैराग्यं संप्रज्ञातस्य समधेरन्तरङ्गं साधनमसंप्रज्ञातस्य तु बहिरङ्गम् । तस्य त्वन्तरङ्गसाधनं परमेवं वैराग्यम् । तच्चासूत्रयत्—'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इति । संप्रज्ञातसमाधिपाटवेन गुणत्रयात्मकात्प्रधानाद्विविक्तस्य पुरुषस्य ख्यातिः साक्षात्कार उत्पद्यते । ततश्चाशेषगुणत्रयव्यवहारेषु वैतृष्ण्यं यद्भवति तत्परं श्रेष्ठं फलभूतं वैराग्यम् । तत्परिपाकनिमित्ताच्च चित्तोपशमपरिपाकादविलम्बेन कैवल्यमिति ॥ ३५ ॥

(१) यत्तु त्वमवोचः प्रारब्धभोगेन कर्मणा तत्त्वज्ञानादपि प्रबलेन स्वफलदानाय मनसो वृत्तिपूत्पाद्यमानासु कथं तासां निरोधः कर्तुं शक्य इति तत्रोच्यते—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

अन्न पान और ऐश्वर्य आदि दृष्ट विषय हैं तथा स्वर्ग विदेहता और प्रकृतिलय इत्यादि वैदिक होने से आनुश्रविक विषय हैं । इन दोनों ही प्रकारके विषयमें तृष्णा रहनेपर तो विवेकके तारतम्यसे यतमान आदि तीन प्रकारके ही वैराग्य होते हैं । 'इस जगत् में क्या सार है और क्या असार 'यह मैं गुरु और शास्त्रके द्वारा जानूँ—इस प्रकारका उद्योग यतमान वैराग्य है । अपने चित्तमें पहले जो दोष विद्यमान थे उनमेंसे विवेकका अभ्यास करनेसे इतने तो पक गये हैं और इतने बाकी हैं—इस प्रकार चिकित्सकके समान पक्व और अपक्व दोनोंका विवेचन करना व्यतिरेक वैराग्य है । दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंकी प्रवृत्तिकी दुःखरूपताके ज्ञानसे बाह्य इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति न होनेपर भी उत्सुकतामात्रसे मनमें उनकी तृष्णा रहनी एकेन्द्रिय वैराग्य है । तथा मनके भी तृष्णाशून्य होने पर सर्वथा वैतृष्ण्य हो जाना अर्थात् ज्ञानकी प्रसादरूपा जो तृष्णाविरोधिनी वृत्ति है वह वशीकारसंज्ञा वैराग्य है । यह सम्प्रज्ञात समाधिका अन्तरंग और असम्प्रज्ञात समाधिका बहिरङ्ग साधन है । उसका तन्तरङ्ग साधन तो पर वैराग्य है । उसका लक्षण इस प्रकार सूत्रबद्ध करते हैं—'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।' सम्प्रज्ञात समाधि की कुशलतासे त्रिगुणात्मक प्रधानसे अलग हुए पुरुषकी ख्याति—साक्षात् अनुभूति होती है । उससे गुणत्रयके समस्त व्यापारोंमें जो तृष्णाहीनता हो जाती है वही पर-श्रेष्ठ अर्थात् फलभूत वैराग्य है । उसके परिपाकरूप निमित्तसे चित्तकी शान्तिका परिपाक होनेपर शीघ्र ही कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ३५ ॥

(१) तुमने जो कहा कि 'तत्त्वज्ञानसे भी प्रबल प्रारब्ध भोगरूप कर्मसे अपना फल देनेके लिये मनकी वृत्तियोंके उत्पन्न होते रहनेपर उनका निरोध किस प्रकार किया जा सकता है, उसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—'जिसने अपने चित्तको वशमें नहीं किया उसके लिये योग दुष्प्राप्य है' ऐसा जो तुमने कहा उसमें मेरी भी सम्मत्ति है, किन्तु जो जितेन्द्रिय है उसके यत्न करने पर उपायद्वारा योग की प्राप्ति हो सकती है ॥ ३६ ॥]

(१) उत्पन्नेऽपि तत्त्वसाक्षात्कारे वेदान्तव्याख्यानादिभ्यासङ्गदालस्यादिदोषाद्वाऽभ्यासवैराग्याभ्यां न संयतो निरुद्ध आत्माऽन्तःकरणं येन तेनासंयतात्मना तत्त्वसाक्षात्कारवताऽपि योगो मनोवृत्तिनिरोधो दुष्प्रापो दुःखेनापि प्राप्तुं न शक्यते प्रारब्धकर्मकृताच्चित्तचाञ्चल्यादिति चेत्सं वदसि तत्र मे मतिर्मम संमतिस्तत्तथैवेत्यर्थः । केन तर्हि प्राप्यते, उच्यते—वश्यात्मना तु वैराग्यपरिपाकेन वासनाक्षये सति वश्यः स्वाधीनो विषयपारतन्त्र्यशून्य आत्माऽन्तःकरणं यस्य तेन । तुशब्दोऽसंयतात्मनो वैलक्षण्यद्योतनार्थोऽवधारणार्थो वा । एतादृशेनापि यतता यतमानेन वैराग्येण विषयस्रोतःखिलीकरणेऽप्यात्मस्रोतउद्घाटनार्थमभ्यासं प्रागुक्तं कुर्वता योगः सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः शक्योऽवाप्तुं चित्तचाञ्चल्यनिमित्तानि प्रारब्धकर्माण्यप्यभिभूय प्राप्तुं शक्यः ।

(२) कथमतिबलवतामारब्धभोगानां कर्मणामभिभवः, उच्यते—उपायत उपायात् । उपायः पुरुषकारस्तस्य लौकिकस्य वैदिकस्य वा प्रारब्धकर्मापेक्षया प्राबल्यात् । अन्यथा लौकिकानां कृष्यादिप्रयत्नस्य वैदिकानां ज्योतिष्टोमादिप्रयत्नस्य च वैयर्थ्यापत्तेः । सर्वत्र प्रारब्धकर्मसदसत्त्वविकल्पग्रासात्प्रारब्धकर्मसत्त्वे तत एव फलप्राप्तेः किं पौरुषेण प्रयत्नेन, तदसत्त्वे तु सर्वथा फलासंभवात्किं तेनेति । अथ कर्मणः स्वमदृष्टरूपस्य दृष्टसाधनसंपत्तिव्यतिरेकेण फलजननासमर्थत्वादपेक्षितः कृष्यादौ पुरुषप्रयत्न इति चेत् । योगाभ्यासेऽपि समं समाधानं तत्साध्यायां जीवन्मुक्तेरपि सुखातिशयरूपत्वेन

(१) 'तत्त्वसाक्षात्कार हो जानेपर भी वेदान्तकी व्याख्या आदिके व्यसनसे अथवा आलस्यादि दोषसे अभ्यास और वैराग्यके द्वारा जिसने आत्मा-अन्तःकरणको संयत-निरुद्ध नहीं किया है उस असंयतात्माके लिये, तत्त्वसाक्षात्कारवान् होनेपर भी, योग—मनोवृत्तियोंका निरोध दुष्प्राप्य है, अर्थात् प्रारब्धकर्मजनित चित्तकी चञ्चलताके कारण कठिनतासे भी प्राप्त नहीं होसकता, ऐसा जो तुम कहते हो उसमें मेरी भी मति है अर्थात् इस विषयमें मेरी भी सम्मति ऐसी ही है । 'तो फिर किसके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ?' इसपर कहते हैं—'वश्यात्मनातु'—वैराग्यके परिपाकसे वासनाओंका क्षय हो जानेपर वश्य—अपने अधीन अर्थात् विषय की परतन्त्रतासे शून्य है आत्मा—अन्तःकरण जिसका उसके द्वारा । यहाँ 'तु' शब्द असंयतात्मासे इसकी विलक्षणता दिखानेके लिये अथवा निश्चय अर्थमें है । ऐसे पुरुषके द्वारा भी उसके यत्नशील होनेपर अर्थात् यतमान वैराग्यके द्वारा विषयस्रोतके बाँध देनेपर भी पूर्वोक्त आत्मस्रोतको खोलनेका अभ्यास करनेवाला होनेपर उसे योग अर्थात् चित्तवृत्तियोंका निरोध प्राप्त हो सकता है अर्थात् चित्तकी चञ्चलताके निमित्त प्रारब्धकर्मोंको दबाकर प्राप्त किया जा सकता है ।

(२) किन्तु जिनका योग आरम्भ हो गया है उन अत्यन्त बलवान् प्रारब्ध कर्मोंको दबाया कैसे जा सकता है ? इसपर कहते हैं—'उपायतः'—उपायके द्वारा । उपाय पुरुषार्थको कहते हैं, क्योंकि वह लौकिक या वैदिक पुरुषार्थ प्रारब्ध कर्मकी अपेक्षा प्रबल है, नहीं तो लौकिक पुरुषोंके खेती आदि प्रयत्नकी और वैदिकोंके ज्योतिष्टोमादि प्रयत्नकी व्यर्थता सिद्ध होगी । प्रारब्ध कर्म सर्वत्र ही होने और न होनेरूप विकल्पसे ग्रस्त है, अतः प्रारब्ध कर्मके होनेपर तो उसीसे फलकी प्राप्ति हो सकती है, फिर पुरुषप्रयत्नकी क्या आवश्यकता है ? और उसके न होनेपर सर्वथा फलभोग हो ही नहीं सकता तब भी पुरुषार्थसे क्या होगा ? यदि कहो कि कर्म स्वयं अदृष्टरूप है, अतः दीखनेवाली साधनसम्पत्तिके बिना फल उत्पन्न करनेमें असमर्थ होनेके कारण उसे कृषि आदिमें पुरुषप्रयत्नकी अपेक्षा है ही तो योगाभ्यासके विषयमें भी यह समाधान ऐसा ही है, क्योंकि योगाभ्याससे होनेवाली जीवन्मुक्ति भी सुखातिशयरूपा होनेके कारण प्रारब्धकर्म फलके ही अन्तर्गत है । अथवा

प्रारब्धकर्मफलान्तर्भावात् । अथवा यथा प्रारब्धफलं कर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलमिति कल्प्यते दृष्टत्वात्, तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलोऽस्तु शास्त्रीयस्य प्रयत्नस्य सर्वत्र ततः प्राबल्यदर्शनात् ।

तथा चाऽऽह भगवान्वसिष्ठः—

'सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन । सम्यक्प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥
उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं स्मृतम् । तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्' ॥

उच्छास्त्रं शास्त्रप्रतिषिद्धमनर्थाय नरकाय । शास्त्रितं शास्त्रविहितमन्तःकरणशुद्धिद्वारा परमार्थाय चतुर्वर्गेषु परमाय मोक्षाय ।

'शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित् । पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारय । स्वमनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर ॥
दृगभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम् । तदाऽभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन' ॥

वासना शुभेति शेषः ।

'संदिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर । शुभायां वासनावृद्धौ तात दोषो न कश्चन ॥
अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः । गुरुशास्त्रप्रमाणैस्त्वं निर्णीतं तावदाचर ॥
ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना । शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निरोधिना' इति ॥

(२) तस्मात्साक्षिगतस्य संसारस्याविवेकनिबन्धनस्य विवेकसाक्षात्कारादपनयेऽपि प्रारब्धकर्मपर्यवस्थापितस्य चित्तस्य स्वाभाविकीनामपि वृत्तीनां योगाभ्यासप्रयत्नेनापनये सति जीवन्मुक्तः

जिस प्रकार यह कल्पना की जाती है कि प्रारब्धकर्मका फल दृष्ट होने के कारण तत्त्वज्ञानसे प्रबल है उसी प्रकार उस कर्मसे भी प्रबल योगाभ्यास हो सकता है, क्योंकि शास्त्रीय प्रयत्नकी सर्वत्र ही प्रारब्धकी अपेक्षा प्रबलता देखी गयी है ।

(१) इस विषयमें भगवान् वसिष्ठजीने भी ऐसा ही कहा है—'रघुनाथजी ! यहाँ इस संसार में सम्यक् प्रकारसे प्रयुक्त पौरुष प्रयत्नसे सर्वदा सभी कुछ प्राप्त किया जा सकता है । पौरुष उच्छास्त्र और शास्त्रित दो प्रकारका है । इनमें उच्छास्त्र अनर्थका कारण है और शास्त्रित परमार्थ की प्राप्तिका हेतु है ।' उच्छास्त्र अर्थात् शास्त्रविरुद्ध अनर्थ—नरकके लिये है और शास्त्रित शास्त्रविहित अन्तःकरणकी शुद्धिके द्वारा परमार्थके लिये—चारों अर्थोंमें परम (श्रेष्ठ) मोक्षके लिये है । 'वासनारूपी नदी शुभ और अशुभ दोनों मार्गोंसे बह रही है । उसे पौरुष प्रयत्नके द्वारा शुभ मार्गमें मोड़ना चाहिये । हे बलवानोंमें श्रेष्ठ ! अशुभोंमें लगे हुये अपने मनको पुरुषार्थद्वारा शुभोंमें जोड़ दो । हे शत्रुदमन ! जिस समय अभ्यासके कारण तुम्हारी [शुभ] वासना अनायास उदित होने लगे उस समय तुम अभ्यासकी सफलता समझो ।' वासनाके साथ 'शुभ' का आध्याहार करना चाहिये । 'जहाँ शुभ और अशुभ वासनाओंके विषयमें सन्देह हो वहाँ शुभको ही स्वीकार करो, क्योंकि हे तात ! शुभ वासना के बढ़नेमें कोई दोष नहीं है । जबतक तुम्हारा मन अविवेकी है और तुम्हें उस पदका ज्ञान नहीं हुआ है, तबतक तुम गुरु और शास्त्रप्रमाणोंसे निर्णय किये हुये व्यवहारका ही आचरण करो । फिर जब कषायोंका पाक और परमार्थ वस्तुका ज्ञान हो जाय तो अवश्य ही तुम्हारे लिये यह शुभ वासनाओंका समूह भी बेखटके त्यागने ही योग्य है ।'

(२) अतः अविवेक के कारण साक्षीमें प्रतीत होनेवाले संसारकी विवेकजनित साक्षात्कारसे निवृत्ति हो जानेपर भी प्रारब्ध कर्मद्वारा उपस्थित किये हुए चित्तकी स्वाभाविकी वृत्तियोंका योगाभ्यासरूप प्रयत्नसे निरोध हो जानेपर ही जीवन्मुक्त परमयोगी होता

परमो योगी । चित्तवृत्तिनिरोधाभावे तु तत्त्वज्ञानवानप्यपरमो योगीति सिद्धम् । अवशिष्टं जीवन्मुक्तिविवेके सविस्तरमनुसंधेयम् ॥ ३६ ॥

(१) एवं प्राक्तनेन ग्रन्थेनोत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽनुत्पन्नजीवन्मुक्तिपरमो योगी मतः । उत्पन्नतत्त्वज्ञान उत्पन्नजीवन्मुक्तिस्तु परमो योगी मत इत्युक्तम् । तयोरुभयोरपि ज्ञानाद्ज्ञाननाशेऽपि यावत्प्रारब्धभोगं कर्म देहेन्द्रियसङ्घातावस्थानात्प्रारब्धभोगकर्मापाये च वर्तमानदेहेन्द्रियसङ्घातापायात्पुनरुत्पादकाभावाद्विदेहकैवल्यं प्रति काऽपि नास्त्याशङ्का । यस्तु प्राक्तनकर्मभिर्लब्धविविदिषापर्यन्तचित्तशुद्धिः कृतकार्यत्वात्सर्वाणि कर्माणि परित्यज्य प्राप्तपरमहंसपरिव्राजकभावः परमहंसपरिव्राजकमात्मसाक्षात्कारेण जीवन्मुक्तं परप्रबोधनदक्षं गुरुमुपसृत्य ततो वेदान्तमहावाक्योपदेशं प्राप्य तत्रासंभावनाविपरीतभावनाख्यप्रतिबन्धनिरासायाथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्याद्यनावृत्तिः शब्दादित्यन्तया चतुर्लक्षणमीमांसया श्रवणमननिदिध्यासनानि गुरुप्रसादात्कर्तुमारभते स श्रद्दधानोऽपि सन्नायुषोऽल्पत्वेनाल्पप्रयत्नत्वादलब्धज्ञानपरिपाकः श्रवणमननिदिध्यासनेषु क्रियमाणेष्वेव मध्ये व्यापद्यते । स ज्ञानपरिपाकशून्यत्वेनानष्टाज्ञानो न मुच्यते, नाप्युपासनासहितकर्मफलं देवलोकमनुभवत्यर्चिरादिमार्गेण, नापि केवलकर्मफलं पितृलोकमनुभवति धूमादिमार्गेण, कर्मणामुपासनानां च त्यक्तत्वात् । अत एता-

---

है तथा चित्तवृत्तियोंका निरोध न होनेपर तो तत्त्वज्ञान सम्पन्न होनेपर भी वह अपरम योगी ही होता है—यह सिद्ध हुआ । शेष विषयका जीवन्मुक्तिविवेकमें विस्तारपूर्वक अनुसन्धान किया जा सकता है ॥ ३६ ॥

(१) इस प्रकार पूर्वग्रन्थसे यह कहा गया है कि जिसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो गया है, किन्तु जीवन्मुक्ति उत्पन्न नहीं हुई वह अपरम योगी माना गया है और तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर जिसे जीवन्मुक्ति भी हो गयी है उसे शास्त्रने परम योगी माना है । ज्ञानके द्वारा उन दोनों ही के अज्ञानका नाश हो जानेपर भी देह और इन्द्रियोंके संघातकी स्थिति के कारण जिसका योग प्रारम्भ हो गया है वह कर्म होता रहता है, फिर प्रारब्धभोग कर्मकी समाप्ति होने पर वर्तमान देह और इन्द्रियोंकी निवृत्ति हो जानेसे तथा उन्हें कोई पुनः उत्पन्न करनेवाला निमित्त न रहनेसे उनका विदेहकैवल्य होनेमें कोई शंका नहीं है । किन्तु जिसे पूर्वोक्त शुभ कर्मोंद्वारा जिज्ञासापर्यन्त चित्तशुद्धि प्राप्त हो गयी है और अपने कर्त्तव्यों का पालन कर चुकनेके कारण जो समस्त कर्मोंको त्यागकर परमहंस परिव्राजक भावको प्राप्त हो आत्मसाक्षात्कारके द्वारा जीवन्मुक्त और दूसरोंको उपदेश करनेमें कुशल परमहंस-परिव्राजक गुरुकी शरणमें जा उससे वेदान्तोंके महावाक्योंका उपदेश प्राप्तकर उनमें असम्भावना और विपरीत भावनारूप प्रतिबन्धोंकी निवृत्तिके लिये 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से लेकर 'अनावृत्तिः शब्दात्' इस सूत्रपर्यन्त चार अध्यायोंवाली उत्तरमीमांसाके द्वारा गुरुकृपासे श्रवण मनन और निदिध्यासन करना आरम्भ करता है, तथा श्रद्धालु होनेपर भी आयुकी अल्पता अथवा अपने प्रयत्नकी शिथिलताके कारण ज्ञानका परिपाक हुए बिना ही श्रवण मनन और निदिध्यासन करते हुए बीचही में मर जाता है तो वह ज्ञानके परिपाकसे शून्य होनेके कारण अज्ञानका नाश न होनेसे तो मुक्त नहीं हो सकता, न अर्चिरादि मार्गसे उपासनासहित कर्मके फल देवलोकका अनुभव कर सकता है और न धूममार्गद्वारा केवल कर्मके फल पितृलोकका अनुभव करता है, क्योंकि कर्म और उपासनाको वह त्याग चुकता है; अतः ऐसा योगभ्रष्ट अज्ञानी होनेपर भी देवयान और पितृयान मार्गोंसे असम्बद्ध होनेके कारण वर्णाश्रमधर्मोंसे भ्रष्ट हुए पुरुषोंके समान कीटादि भावको प्राप्त

इशो योगभ्रष्टः कीटादिभावेन कष्टां गतिमियादज्ञत्वे सति देवयानपितृयानमार्गासंबन्धित्वाद्वर्णाश्रमाचारभ्रष्टवदथवा कष्टां गतिं नेयात्, शास्त्रनिन्दितकर्मशून्यत्वाद्वामदेववदितिसंशयपर्याकुलमनाः—

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

(१) यतिर्यत्नशीलः अल्पार्थे नञ्, अलवणा यवागूरित्यादिवत्, अयतिरल्पयत्नः, श्रद्धया गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासबुद्धिरूपयोपेतो युक्तः । श्रद्धा च स्वसहचरितानां शमादीनामुपलक्षणं 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति' इति श्रुतेः । तेन नित्यानित्यवस्तुविवेक इहामुत्रभोगविरागः शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धादिसंपन्मुमुक्षुता चेतिसाधनचतुष्टयसंपन्नो गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यश्रवणादि कुर्वन्नपि परमायुषोऽल्पत्वेन मरणकाले चेन्द्रियाणां व्याकुलत्वेन साधनानुष्ठानासंभवाद्योगाच्चलितमानसो योगाच्छ्रवणादिपरिपाकलब्धजन्मनस्तत्त्वसाक्षात्काराच्चलितं तत्फलमप्राप्तं मानसं यस्य स योगानिष्पत्त्यैवाप्राप्य योगसंसिद्धिं तत्त्वज्ञाननिमित्तामज्ञानतत्कार्यनिवृत्तिमपुनरावृत्तिसहितामप्राप्यातत्त्वज्ञ एव मृतः सन्कां गतिं हे कृष्ण गच्छति सुगतिं दुर्गतिं वा, कर्मणां परित्यागाज्ज्ञानस्य चानुत्पत्तेः शास्त्रोक्तमोक्षसाधनानुष्ठायित्वाच्छास्त्रगर्हितकर्मशून्यत्वाच्च ॥ ३७ ॥

होकर कष्टपूर्ण गतिको प्राप्त होता है अथवा शास्त्रनिन्दित कर्मोंसे रहित होनेके कारण वामदेव के समान किसी कष्टपूर्ण गतिको प्राप्त नहीं होता—इस प्रकार संशयसे व्याकुलचित्त हुए—

[श्लोकार्थ :—अर्जुनने कहा—श्रीकृष्ण ! अल्पप्रयत्नयुक्त एवं श्रद्धासे युक्त तथा तत्त्व साक्षात्कारसे जिसका अन्तःकरण विचलित हो गया है वह पुरुष योगकी सम्यक् सिद्धिरूप ज्ञानको प्राप्त न होकर किस गतिको प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥]

(१) यति यत्नशीलको कहते हैं । इसके पहले 'नञ्' उपसर्ग 'अलवणा यवागू' (थोड़े नमककी लप्सी) इत्यादि प्रयोगोंके समान अल्प' अर्थमें है । अयति—अल्प प्रयत्नवाला तथा गुरु और वेदान्तवाक्योंमें विश्वास-बुद्धिरूप श्रद्धा से युक्त । यहाँ श्रद्धा अपने साथ रहनेवाले शमादिकी उपलक्षण है, जैसा कि 'शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और श्रद्धासे युक्त होकर अपने अन्तःकरणमें आत्माका साक्षात्कार करे' इस श्रुतिने बताया है । अतः नित्यानित्यवस्तुविवेक, लौकिक और पारलौकिक फलोंके भोगसे वैराग्य शम दम उपरति तितिक्षा श्रद्धा और समाधानरूप षट्सम्पत्ति एवं मुमुक्षुता—इन साधन चतुष्टयसे सम्पन्न होकर गुरुकी शरणमें जाकर वेदान्तवाक्योंके श्रवणादि करते रहनेपर भी आयुकी अल्पता अथवा मरणकालमें इन्द्रियोंकी व्याकुलताके कारण साधनोंका अनुष्ठान न हो सकनेसे जो योगसे चलितचित्त हो गया है—योग अर्थात् श्रवणादिके परिपाकसे उत्पन्न होनेवाले तत्त्व साक्षात्कारसे जिसका चित्त—चलित अर्थात् उसके फलको बिना प्राप्त किये रह गया है वह योगकी निष्पत्ति न होनेके कारण ही योगसंसिद्धिको—तत्त्वज्ञानके कारण होनेवाली अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्तिको अपुनरावृत्तिके सहित प्राप्त किये बिना ही मर जानेपर हे कृष्ण ! सुगति या दुर्गति किस प्रकारकी गतिको प्राप्त होता है ? क्योंकि वह कर्मोंका तो त्यागकर चुका है, किन्तु उसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तथा वह शास्त्रोक्त मोक्षसाधनोंका अनुष्ठान करनेवाला और शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्मोंसे शून्य होता है ॥३७॥

(१) एतदेव संशयबीजं विवृणोति—

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

(२) कच्चिदिति साभिलाषप्रश्ने । हे महाबाहो महान्तः सर्वेषां भक्तानां सर्वोपद्रवनिवारणसमर्थाः पुरुषार्थचतुष्टयदानसमर्था वा चत्वारो बाहवो यस्येति प्रश्ननिमित्तक्रोधाभावस्तदुत्तरदानसहिष्णुत्वं च सूचितम् । ब्रह्मणः पथि ब्रह्मप्राप्तिमार्गे ज्ञाने विमूढो विक्षिप्तः, अनुत्पन्नब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कार इति यावत् । अप्रतिष्ठो देवयानपितृयानमार्गगमनहेतुभ्यामुपासनाकर्मभ्यां प्रतिष्ठाभ्यां साधनाभ्यां रहितः सोपासनानां सर्वेषां कर्मणां परित्यागात् । एतादृश उभयविभ्रष्टः कर्ममार्गाज्ज्ञानमार्गाच्च विभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव वायुना छिन्नं विशकलितं पूर्वस्मान्मेघाद्भ्रष्टमुत्तरं मेघमप्राप्तमभ्रं यथा वृष्टयर्थोऽयं सदन्तराल एव नश्यति तथा योगभ्रष्टोऽपि पूर्वस्मात्कर्ममार्गाद्विच्छिन्न उत्तरं च ज्ञानमार्गमप्राप्तोऽन्तराल एव नश्यति कर्मफलं ज्ञानफलं च लब्धुमयोग्यो न किमिति प्रश्नार्थः । एतेन ज्ञानकर्मसमुच्चयो निराकृतः । एतस्मिन्हि पक्षे ज्ञानफलालाभेऽपि कर्मफलालाभसंभवेनोभयविभ्रष्टत्वासंभवात् । न च तस्य कर्मसंभवेऽपि फलकामनात्यागात्तत्फलभ्रंशवचनमवकल्पत इति वाच्यं निष्का-

(१) इस संशयबीजका ही स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे महाबाहो ! ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें अत्यन्त मूढ और देवयान-पितृयान मार्गोंके हेतुभूत उपासना और कर्ममें भी अप्रतिष्ठित इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों हीसे भ्रष्ट हुआ वह पुरुष क्या वायुसे छिन्न-भिन्न हुए बादलके समान नष्ट हो जाता है ? ॥ ३८ ॥]

(२) 'कच्चित्' यह अभिलाषायुक्त प्रश्नका द्योतक है । हे महाबाहो—महान् अर्थात् सम्पूर्ण भक्तोंके समस्त उपद्रवोंको निवृत्त करनेमें समर्थ अथवा चारों पुरुषार्थोंको प्रदान करनेमें समर्थ हैं चार बाहु जिनकी—इस प्रकार प्रश्नके कारण क्रोध न होना और उत्तर दोनोंमें सहिष्णुता ये भगवान्‌के गुण सूचित किये हैं । ब्रह्मके मार्ग अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिके मार्ग ज्ञानमें विमूढ—विक्षिप्त अर्थात् जिसे ब्रह्म और आत्माकी एकताका साक्षात्कार उत्पन्न नहीं हुआ है और अप्रतिष्ठ यानी देवयान एवं पितृयान मार्गोंमें जानेके हेतुभूत उपासना और कर्मरूप प्रतिष्ठा—साधनोंसे रहित, क्योंकि उपासनासहित समस्त कार्योंका तो वह त्याग कर चुकता है—ऐसा उभयभ्रष्ट अर्थात् कर्ममार्ग और ज्ञानमार्गसे भ्रष्ट हुआ पुरुष छिन्न-भिन्न हुए बादलके समान, जिस प्रकार वायुसे छिन्न—टुकड़े-टुकड़े किया हुआ बादल पहले मेघसे अलग होकर और दूसरेसे न मिलकर वर्षा करनेके योग्य न होकर बीचमें ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार योगभ्रष्ट भी पहले कर्ममार्गसे अलग होकर तथा आगेके ज्ञान मार्ग तक न पहुँचकर बीचहीमें नष्ट हो जाता है अर्थात् वह कर्म और ज्ञान दोनों हीके फलोंको प्राप्त नहीं कर पाता न ?—यह इस प्रश्नका तात्पर्य है । इससे ज्ञान और कर्मके समुच्चयका निराकरण होजाता है, क्योंकि इस पक्षमें ज्ञानका फल प्राप्त न होनेपर भी कर्मका फल प्राप्त होनेकी सम्भावना होनेपर उभयभ्रष्टता असम्भव हो जाती है । ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि 'उसके द्वारा कर्म होनेकी सम्भावना होनेपर भी उनके फलकी कामनाके परित्यागसे उसका कर्मफलसे भ्रष्ट होना कहा जा सकता है' क्योंकि आपस्तम्ब के वचन आदि उदाहरणोंसे निष्काम कर्मोंके फलोंका होना भी अनेक प्रकारसे बताया

मानःमपि कर्मणां फलसद्भावस्याऽऽपस्तम्बवचनाद्युदाहरणेन बहुशः प्रतिपादितत्वात् । तस्मात्सर्वकर्मत्यागिनं प्रत्येवायं प्रश्नः, अनर्थप्राप्तिशङ्कायास्तत्रैव संभवात् ॥ ३८ ॥

(१) यथोपदर्शितसंशयापाकरणाय भगवन्तमन्तर्यामिणमर्थयते पार्थः—

एतन्मे संशयं कृष्ण च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

(२) एतदेवं पूर्वोपदर्शितं मे मम संशयं हे कृष्ण च्छेत्तुमपनेतुमर्हस्यशेषतः संशयमूलाधर्माद्युच्छेदेन । मदन्यः कश्चिदृषिर्वा देवो वा त्वदीयमिमं संशयमुच्छेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—त्वदन्यः, त्वत्परमेश्वरात्सर्वज्ञाच्छास्त्रकृतः परमगुरोः कारुणिकादन्योऽनीश्वरत्वेनासर्वज्ञः कश्चिदृषिर्वा देवो वाऽस्य योगभ्रष्टपरलोकगतिविषयस्य संशयस्य च्छेत्ता सम्यगुत्तरदानेन नाशयिता हि यस्माच्छोपपद्यते न संभवति तस्मात्त्वमेव प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य परमगुरुः संशयमेतं मम च्छेत्तुमर्हसीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

(३) एवमर्जुनस्य योगिनं प्रति नाशाशङ्कां परिहरञ्जुत्तरम—

श्रीभगवानुवाच—
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

(४) उभयविभ्रष्टो योगी नश्यतीति कोऽर्थः । किमिह लोके शिष्टगर्हणीयो भवति वेद-

गया है । अतः यह प्रश्न समस्त कर्मोंका त्याग करनेवालेके विषयमें ही है, क्योंकि उसीके विषयमें अनर्थ प्राप्तिकी शङ्का हो सकती है ॥ ३८ ॥

(१) ऊपर दिखाये हुए संशयकी निवृत्तिके लिये अर्जुन अन्तर्यामी भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

[श्लोकार्थः—श्रीकृष्ण ! मेरे इस सन्देहका आप सर्वथा छेदन कर दीजिये । आपके सिवा और कोई इस संशयका छेदन करनेवाला नहीं हो सकता ॥ ३९ ॥

(२) हे कृष्ण ! मेरे इस पहले दिखाये हुए संशयका आपको अशेषतः—संशयके मूल अधर्मादिके उच्छेदपूर्वक छेदन—विनाश कर देना चाहिये । फिर ऐसी आशंका करके कि भगवान् यह न कह दें कि तुम्हारे इस संशयको मेरे सिवा कोई और ऋषि या देवता निवृत्त कर देगा ! अर्जुन कहते हैं—क्योंकि आप परमेश्वरसे सर्वज्ञ शास्त्रयोनि परमगुरु और करुणामयके सिवा अनीश्वर होनेके कारण असर्वज्ञ कोई ऋषि या देवता इस योगभ्रष्टकी परलोकगति विषयक संशयका छेदन करनेवाला—इसका ठीक-ठीक उत्तर देकर इसका नाश करनेवाला नहीं हो सकता, इसलिये सबके परमगुरु प्रत्यक्षदर्शी आपही मेरे इस संशयका छेदन करनेमें समर्थ हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ३९ ॥

(३) इस प्रकार योगीके विषयमें अर्जुनकी नाशकी आशंकाका परिहार करनेके लिये उत्तर देते हुए

[श्लोकार्थः—श्री भगवानने कहा—पार्थ ! उसका नाश न तो इस लोकमें हो सकता है और न परलोक में ही, क्योंकि हे तात ! शास्त्रानुसार आचरण करनेवाला कोई भी पुरुष दुर्गतिको प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ४० ॥]

(४) उभयभ्रष्ट योगी नष्ट हो जाता है—इसका अर्थ क्या है ? क्या किसी उच्छृङ्खल

विहितकर्मत्यागात्, यथा कश्चिदुच्छृङ्खलः, किं वा परत्र निकृष्टां गतिं प्राप्नोति। यथोक्तं श्रुत्या 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन ते कीटाः पतङ्गा यदि दन्दशूकम्' इति। तथा चोक्तं मनुना—'वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः' इत्यादि। तदुभयमपि नेत्याह—हे पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य यथाशास्त्रं कृतसर्वकर्मसंन्यासस्य सर्वतो विरक्तस्य गुरुमुपसृत्य वेदान्तश्रवणादि कुर्वतोऽन्तराले मृतस्य योगभ्रष्टस्य विद्यते।

(१) उभयत्रापि तस्य विनाशो नास्तीत्यत्र हेतुमाह हि यस्मात्कल्याणकृच्छास्त्रविहितकारी कश्चिदपि दुर्गतिमिहाकीर्तिं परत्र च कीटादिरूपतां न गच्छति। अयं तु सर्वोत्कृष्ट एव सन्दुर्गतिं न गच्छतीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। तनोत्यात्मानं पुत्ररूपेणेति पिता तत उच्यते। स्वार्थिकेऽपि तत एव तातो राक्षसवायसादिवत्। पितैव च पुत्ररूपेण भवतीति पुत्रस्थानीयस्य शिष्यस्य तातेतिसंबोधनं कृपातिशयसूचनार्थम्। यदुक्तं योगभ्रष्टः कष्टां गतिं गच्छति अज्ञत्वे सति देवयानपितृयानमार्गान्यतरासंबन्धित्वात्स्वधर्मभ्रष्टवदिति, तदयुक्तम्, एतस्य देवयानमार्गसंबन्धित्वेन हेतोरसिद्धत्वात्। पञ्चाग्निविद्यायां य इत्थं विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्तीत्यविशेषेण पञ्चाग्निविदामिवातत्कतूनां श्रद्धासत्यवतां मुमुक्षूणामपि देवयानमार्गेण ब्रह्मलोकप्राप्तिकथनात्। श्रवणादि-

पुरुषके समान वेदविहित कर्मके त्यागनेसे वह इस लोकमें शिष्ट पुरुषोंकी दृष्टिमें निन्दनीय हो जाता है अथवा परलोकमें अधोगतिको प्राप्त होता है? जैसाकि श्रुतिने कहा है 'वे इन (देवयान और पितृयान) दोनों मार्गोंमेंसे किसीसे भी नहीं जाते, वे कीट पतङ्ग या सर्पादि हो जाते हैं।' तथा मनुजीने भी कहा है—'अपने धर्मसे भ्रष्ट हुआ ब्राह्मण वमन किये अन्न खानेवाला और जिसके मुखसे आग निकलती है ऐसा प्रेत होता है।' इस पर भगवान् कहते हैं कि योगभ्रष्टके विषयमें ये दोनों बातें नहीं हैं। हे पार्थ! जिसने शास्त्रविधिसे समस्त कर्मोंका त्याग किया है वह सब ओरसे विरक्त तथा गुरुके पास जाकर वेदान्तश्रवण आदि करनेवाले और बीच हीमें मर जानेवाले योगभ्रष्टका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही।

(१) उसका जो दोनों लोकोंमें नाश नहीं होता इसमें हेतु बताते हैं—'हि' क्योंकि कल्याणकृत्—शास्त्रविहित आचरण करनेवाला कोई भी पुरुष दुर्गति को अर्थात् इस लोकमें अपकीर्ति और परलोकमें कीटादि रूपताको प्राप्त नहीं होता। फिर यह सबसे उत्कृष्ट होते हुए दुर्गतिको प्राप्त न हो—इसमें तो कहना ही क्या है? ऐसा इसका अभिप्राय है। जो अपने आत्माको ही पुत्र रूपसे तनता (विस्तृत करता) है वह पिता 'तात' कहा जाता है। स्वार्थमें 'अण' प्रत्यय होनेपर 'राक्षस वायस' इत्यादि शब्दोंके समान 'तत' शब्द ही 'तात' हो जाता है। पिता ही पुत्ररूपसे होता है, अतः पुत्रस्थानीय शिष्यका 'तात' यह सम्बोधन कृपाकी अधिकता सूचित करनेके लिए है। तुमने जो कहा कि अज्ञानी होनेपर भी देवयान या पितृयान किसी भी मार्गसे सम्बद्ध न होनेके कारण स्वधर्मसे भ्रष्ट हुए पुरुषके समान योगभ्रष्ट भी कष्टमयी गतिको प्राप्त होता है—सो ठीक नहीं, क्योंकि इसके देवयानमार्गसे असम्बद्ध होनेसे भी तुम्हारा दिया हुआ हेतु असिद्ध हो जाता है। कारण कि पञ्चाग्नि विद्यामें 'जो इस प्रकार उपासना करते हैं और जो वनमें रहकर श्रद्धा और सत्यका सेवन करते हैं वे अर्चिरादि मार्गको ही प्राप्त होते हैं' इस प्रकार पञ्चाग्निकी उपासना करनेवाले और वैसा न करनेवाले श्रद्धा और सत्यशील मुमुक्षुओंको भी समानरूपसे देवयानमार्गद्वारा ब्रह्मलोककी प्राप्ति ही बतायी गयी है। श्रवणादिमें लगे हुए योगभ्रष्टमें 'श्रद्धान्वितो भूत्वा' इस श्रुतिसे श्रद्धा तो सिद्ध होती ही है

परायणस्य च योगभ्रष्टस्य श्रद्धान्वितो भूत्वेत्यनेन श्रद्धायाः प्राप्तत्वात्, शान्तो दान्त इत्यनेन चानृतभाषणरूपवाग्व्यापारनिरोधरूपस्य सत्यस्य लब्धत्वात्। बहिरिन्द्रियाणामुच्छृङ्खलव्यापारनिरोधो हि दमः। योगशास्त्रे चाहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा इति योगाङ्गत्वेनोक्तत्वात्। यदि तु सत्यशब्देन ब्रह्मैवोच्यते तदाऽपि न क्षतिः, वेदान्तश्रवणादेरपि सत्यब्रह्मचिन्तनरूपत्वात्। अतत्कतुत्वेऽपि च पञ्चाग्निविदामिव ब्रह्मलोकप्राप्तिसंभवात्। तथाच स्मृतिः 'संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानम्' इति। तथा प्रात्यहिकवेदान्तवाक्यविचारस्यापि कृच्छ्रातिफलतुल्यफलत्वं स्मर्यते। एवं च संन्यासश्रद्धासत्यब्रह्मविचाराणामन्यतमस्यापि ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनत्वात्समुदितानां तेषां तत्साधनत्वं किं चित्रम्। अत एव सर्वसुकृतरूपत्वं योगिचरितस्य तैत्तिरीया आमनन्ति 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य' इत्यादिना। स्मर्यते च—

'स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्ताऽवनिर्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संपूजिताः॥
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्' इति॥

(१) तदेवं योगभ्रष्टस्य शुभकृत्त्वेन लोकद्वयेऽपि नाशाभावे किं भवतीत्युच्यते—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥

(२) योगमार्गप्रवृत्तः सर्वकर्मसंन्यासी वेदान्तश्रवणादि कुर्वन्नन्तराले म्रियमाणः कश्चित्पूर्वो-

तथा 'शान्तो दान्तः' इससे अनृतभाषणरूप वाग्व्यापारका निरोधरूप सत्य भी प्राप्त होता है। बाह्य इन्द्रियोंके उच्छृङ्खल व्यापारका निरोध ही दम है। योगशास्त्रमें 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये यम हैं' इस प्रकार इन्हें योगके अङ्गरूपसे कहा है। यदि 'सत्य' शब्दसे ब्रह्म ही कहा गया हो तो भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि वेदान्तश्रवणादि भी सत्यब्रह्मका ही चिन्तनरूप है। अतः पञ्चाग्निविद्यारूप यज्ञसे रहित होनेपर भी पञ्चाग्नि-उपासकोंके समान उन्हें भी ब्रह्मलोककी प्राप्ति सम्भव है ही। ऐसा ही स्मृति भी कहती है—'संन्याससे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है।' इसी प्रकार जिसे इस लोकमें वेदान्त वाक्योंका विचार प्राप्त हुआ है उसे अस्सी कृच्छ्र व्रतोंका फल बताया है। इस प्रकार संन्यास श्रद्धा सत्य और ब्रह्मविचारमेंसे प्रत्येक ही ब्रह्मलोक प्राप्तिका साधन है तो उन सबका मिलकर उसका साधन होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है? इसीसे तैत्तिरीय शाखावाले 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य' इत्यादि वाक्यसे योगीके चरितको सर्वयज्ञरूप कहते हैं। कहा भी है—'जिसका मन एक क्षणके लिये भी ब्रह्मविचारमें स्थिरताको प्राप्त हो गया है उसने समस्त तीर्थोंमें स्नान कर लिया, सारी पृथ्वीका दान कर दिया, सहस्रों यज्ञ कर लिये, समस्त देवताओंका पूजन कर लिया, संसारसे अपने पितरोंका उद्धार कर दिया और तीनों लोकोंमें वह सबका पूज्य हो गया'॥ ४०॥

(१) इस प्रकार शुभ कर्म करनेवाला होनेसे यदि योगभ्रष्टका दोनों लोकोंमें नाश नहीं होता तो क्या होता है? इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—यह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्य करनेवालोंके लोकोंको प्राप्त होकर वहाँ अनन्त वर्षोंतक रहकर पवित्र और श्रीमान् लोगोंके घरमें जन्म लेता है॥ ४१॥]

(२) योगमार्गमें लगा हुआ समस्त कर्मोंका त्याग करनेवाला पुरुष वेदान्तश्रवण आदि करते हुए यदि बीचहीमें मर जाय तो कोई तो पहले सञ्चित हुई भोगवासनाओंका

१. उसे इस प्रकार जाननेवालेके यज्ञका।

पचितभोगवासनाप्रादुर्भावाद्विषयेभ्यः स्पृहयति । कश्चित्तु वैराग्यभावनादार्ढ्याच्च स्पृहयति । तयोः प्रथमः प्राप्य पुण्यकृतामश्वमेधयाजिनां लोकानचिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकान् । एकस्मिन्नपि भोगभूमिभेदापेक्षया बहुवचनम् । तत्र चोषित्वा वासमनुभूय शाश्वतीर्ब्रह्मपरिमाणेनाक्षायाः समाः संवत्सरान् , तदन्ते शुचीनां शुद्धानां श्रीमतां विभूतिमतां महाराजचक्रवर्तिनां गेहे कुले भोगवासनाशोषसद्भावादजातशत्रुजनकादिवद्योगभ्रष्टोऽभिजायते । भोगवासनाप्राबल्याद्ब्रह्मलोकान्ते सर्वकर्मसंन्यासायोग्यो महाराजो भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

(१) द्वितीयं प्रति पक्षान्तरमाह—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

(२) श्रद्धावैराग्यादिकल्याणगुणाधिक्ये तु भोगवासनाविरहात्पुण्यकृतां लोकानप्राप्यैव योगिनामेव दरिद्राणां ब्राह्मणानां न तु श्रीमतां राज्ञां कुले भवति धीमतां ब्रह्मविद्यावताम् । एतेन योगिनामिति न कर्मिग्रहणम् । यच्छुचीनां श्रीमतां राज्ञां गृहे योगभ्रष्टजन्म तदपि दुर्लभमनेकसुकृतसाध्यत्वान्मोक्षपर्यवसायित्वाच्च । यत्तु शुचीनां दरिद्राणां ब्राह्मणानां ब्रह्मविद्यावतां कुले जन्म, एतद्धि प्रसिद्धं शुकादिवत्, दुर्लभतरं दुर्लभादपि दुर्लभं लोके यदीदृशं सर्वप्रमादकारणशून्यं जन्मेति द्वितीयः स्तूयते भोगवासनाशून्यत्वेन सर्वकर्मसंन्यासार्हत्वात् ॥ ४२ ॥

प्रादुर्भाव होनेसे विषयोंकी इच्छा करने लगता है और कोई वैराग्य भावना दृढ होनेसे उसकी इच्छा नहीं करता । उनमेंसे पहला तो अर्चिरादि मार्गसे पुण्यकृत अर्थात् अश्वमेध यज्ञ करनेवालोंके लोक ब्रह्मलोकोंको प्राप्त होकर ब्रह्मलोक एक होनेपर भी भूमिभेदकी अपेक्षासे 'ब्रह्मलोकान्' ऐसा बहुवचन दिया है । वहाँ शाश्वती—ब्रह्माके परिमाणसे अक्षय समाः—वर्षोंतक बसकर उसके पीछे भोगवासना शेष रहनेके कारण शुचि—शुद्ध और श्रीमान्—विभूतिमान् अर्थात् चक्रवर्ती महाराजोंके घर यानी कुलमें अजातशत्रु और जनकादिके समान वह योगभ्रष्ट जन्म लेता है, क्योंकि उसमें भोगवासनाकी प्रबलता रहती है । अर्थात् ब्राह्मलोकका भोग समाप्त होनेपर सर्वकर्मसंन्यासमें अयोग्य महाराज होता है ॥ ४१ ॥

(१) दूसरेके लिये दूसरा पक्ष बताते हैं—

[श्लोकार्थः—अथवा वह बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें ही जन्म लेता है । लोक में जो ऐसा जन्म होता है वह अत्यन्त दुर्लभ ही है ॥ ४२ ॥

(२) श्रद्धा-वैराग्य आदि कल्याणमय गुणोंकी अधिकता होनेपर तो भोगवासनाओं से रहित होनेके कारण वह पुण्यात्माओंके लोकोंमें न जाकर धीमान्—ब्रह्मविद्यावान् योगियोंके ही—दरिद्र ब्राह्मणोंके ही कुलमें जन्म लेता है, श्रीमान् राजाओंके कुलमें नहीं । इससे 'योगिनाम्' इस पदसे कर्मियोंका ग्रहण नहीं होता । पवित्र और श्रीमान् राजाओंके घरमें जो योगभ्रष्टका जन्म लेना है वह भी दुर्लभ है, क्योंकि वह अनेक प्रकारके शुभ कर्मोंसे प्राप्त होनेवाला और मोक्षमें परिणत होनेवाला है; किन्तु पवित्र और दरिद्र ब्रह्मविद्यावान् ब्राह्मणोंके कुलमें जो जन्म लेता है वह तो शुकादिके जन्मके समान प्रसिद्ध है । लोकमें सब प्रकारके प्रमादके कारणोंसे रहित जो ऐसा जन्म है वह तो दुर्लभसे भी दुर्लभ है—इस प्रकार दूसरे पक्षकी स्तुति की जाती है, क्योंकि भोगवासनाओं से रहित होनेके कारण वह सर्वकर्मसंन्यासके योग्य होता है ॥ ४२ ॥

(१) एतादृशजन्मसद्भावस्य दुर्लभत्वं कस्मात् । यस्मात्—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

(२) तत्र द्विप्रकारेऽपि जन्मनि पूर्वदेहे भवं पौर्वदेहिकं सर्वकर्मसंन्यासगुरूपसदनश्रवणमननिदिध्यासनानां मध्ये यावत्पर्यन्तमनुष्ठितं तावत्पर्यन्तमेव तं ब्रह्मात्मैक्यविषयया बुद्ध्या संयोगं तत्साधनकलापमिति यावत् । लभते प्राप्नोति । न केवलं लभत एव किं तु ततस्तज्ज्ञानभानन्तरं भूयोऽधिकं लब्धाया भूमेरग्रिमां भूमिं संपादयितुं संसिद्धौ संसिद्धिमोक्षस्तन्निमित्तं यतते च प्रयत्नं करोति च । यावन्मोक्षं भूमिकाः संपादयतीत्यर्थः । हे कुरुनन्दन तत्रापि शुचीनां श्रीमतां कुले योगभ्रष्टजन्म जातमिति पूर्ववासनावशादनायासेनैव ज्ञानलाभो भविष्यतीति सूचयितुं महाप्रभावस्य कुरोः कीर्तनम् ।

(३) अयमर्थो भगवद्वसिष्ठवचने व्यक्तः । यथा श्रीरामः—

'एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत ।
आरूढस्य सृतस्याथ कीदृशी भगवन्गतिः ॥'

पूर्वं हि सप्त भूमयो व्याख्याताः । तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वकादिहामुत्रार्थभोगवै-

---

(१) ऐसे दोनों ही प्रकारके जन्मोंकी दुर्लभता क्यों है ? क्योंकि—

[श्लोकार्थः—हे कुरुनन्दन ! इन जन्मोंमें उसे पूर्वजन्मोपार्जित बुद्धिका संयोग प्राप्त होता है, और उसके अनन्तर वह आगेकी भूमिका सम्पादन और मोक्षप्राप्तिके लिये पुनः प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥

(२) वहाँ—इन दोनों ही प्रकारके जन्मोंमें पौर्वदेहिक—पूर्व देहमें होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंके संन्यास, गुरुकी शरण में जाना, तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना इनमेंसे जिनका जहाँतक आचरण किया होता है वहाँतक ही उसे ब्रह्मात्मैक्यविषयिनी बुद्धिसे संयोग हो जाता है अर्थात् उसे उसके साधनसमूहोंकी प्राप्ति हो जाती है । केवल उनकी प्राप्ति ही नहीं होती किन्तु फिर—उनकी प्राप्तिके अनन्तर वह भूयः—अधिक अर्थात् प्राप्त हुई भूमिसे आगेकी भूमिका सम्पादन करने और संसिद्धि यानी मोक्षके लिए प्रयत्न करता है । तात्पर्य यह है कि वह मोक्षपर्यन्त भूमिकाका सम्पादन करता है । 'तुम्हारा भी पवित्र और श्रीमानोंके कुलमें योगभ्रष्टजन्म हुआ है, अतः पूर्ववासनाके कारण तुम्हें अनायास ही ज्ञान प्राप्त हो जायगा' यह सूचित करनेके लिये 'हे कुरुनन्दन' इस सम्बोधनसे महाप्रभावशाली कुरुका उल्लेख किया है ।

(३) भगवान् वसिष्ठके वचनमें भी यही अर्थ अभिव्यक्त हुआ है । जैसे श्रीरामजी पूछते हैं—'भगवन् ! पहली, दूसरी अथवा तीसरी भूमिकापर आरूढ होकर मरे हुए पुरुषकी कैसी गति होती है ?' इससे पहले सात भूमिकाओंकी व्याख्या की गयी है । उनमें नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वक ऐहिक और आमुष्मिक विषयभोगोंसे वैराग्य तथा शम दम श्रद्धा तितिक्षा एवं सर्वकर्मसंन्यासादिपूर्वक होनेवाली जो मोक्षकी इच्छा है वह शुभेच्छा नामकी पहली भूमिका है । अर्थात् यह साधनचतुष्टयरूपा सम्पत्ति है । इसके पश्चात् गुरुके समीप जाकर वेदान्तवाक्योंका विचार करनारूप दूसरी भूमिका है । इसे श्रवणमननरूपा सम्पत्ति भी कह सकते हैं । फिर श्रवण और मननसे पूर्णतया निष्पन्न हुए तत्त्वज्ञानकी निःसन्दिग्धतारूपा तनुमानसा नामकी तीसरी भूमिका अर्थात् निदिध्यासन सम्पत्ति है । चौथी

राग्याच्छमदमश्रद्धातितिक्षासर्वकर्मसंन्यासादिपुरःसरा मुमुक्षा शुभेच्छाख्या प्रथमा भूमिका, साधनचतुष्टयसंपदिति यावत्। ततो गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारणात्मिका द्वितीया भूमिका, श्रवणमननसंपदिति यावत्। ततः श्रवणमननपरिनिष्पन्नस्य तत्त्वज्ञानस्य निर्विचिकित्सतारूपा तनुमानसा नाम तृतीया भूमिका, निदिध्यासनसंपदिति यावत्। चतुर्थी भूमिका तु तत्त्वसाक्षात्कार एव। पञ्चमषष्ठसप्तमभूमयस्तु जीवन्मुक्तेरवान्तरभेदा इति तृतीये प्राग्व्याख्यातम्। तत्र चतुर्थीं भूमिं प्राप्तस्य मृतस्य जीवन्मुक्त्यभावेऽपि विदेहकैवल्यं प्रति नास्त्येव संशयः। तदुत्तरभूमित्रयं प्राप्तस्तु जीवन्नपि मुक्तः किमु विदेह इति नास्त्येव भूमिकाचतुष्टये शङ्का। साधनभूतभूमिकात्रये तु कर्मत्यागाज्ज्ञानालाभाच्च भवति शङ्केति तत्रैव प्रश्नः।

(१) श्रीवसिष्ठः—

'योगभूमिकयोक्तान्तजीवितस्य शरीरिणः। भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम्॥
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च। मेरूपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः॥
ततः सुकृतसंभारे दुष्कृते च पुराकृते। भोगक्षयात्परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुणे गुणवतां सताम्। जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः॥
तत्र प्राग्भवनाभ्यस्तं योगभूमिक्रमं बुधाः। दृष्ट्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम्॥' इति।

(२) अत्र प्रागुपचितभोगवासनाप्राबल्यादल्पकालाभ्यस्तवैराग्यवासनादौर्बल्येन प्राणोत्क्रान्तिसमये प्रादुर्भूतभोगस्पृहः सर्वकर्मसंन्यासी यः स एवोक्तः। यस्तु वैराग्यवासनाप्राबल्यात्प्रकृष्टपुण्यप्रकटितपरमेश्वरप्रसादवशेन प्राणोत्क्रान्तिसमयेऽनुद्भूतभोगस्पृहः संन्यासी भोगव्यवधानं

भूमिका तो तत्त्वसाक्षात्कार ही है। तथा पाँचवीं, छठी और सातवीं भूमिकाएँ जीवन्मुक्ति के अवान्तर भेद ही हैं—ऐसी पहले तीसरे अध्यायमें व्याख्या की जा चुकी है। इनमें चौथी भूमिकाको प्राप्त होकर मरे हुए पुरुषको जीवन्मुक्तिका अभाव रहनेपर भी उसके विदेह मोक्षमें कोई सन्देह नहीं है। इससे आगेकी भूमिकाओंको प्राप्त हुआ पुरुष तो जीवित रहते हुए भी मुक्त ही है फिर उसकी विदेहमुक्तिके विषयमें तो कहना ही क्या है? अतः इन चार भूमिकाओंके विषयमें तो कोई शंका है नहीं। किन्तु साधनभूता तीन भूमिकाओंमें कर्मका त्याग हो जानेसे और ज्ञानकी प्राप्ति न होनेसे शंका हो सकती है, अतः उन्हींके विषयमें रामजीका यह प्रश्न है।

(१) इसपर श्रीवसिष्ठजीने कहा—'जिस देहधारीका प्राण योगभूमिकाओंके प्राप्त होनेपर छूटता है, भूमिकाके अंशोंके अनुसार उसके पहले किये हुए पाप क्षीण हो जाते हैं। फिर वह देवताओंके विमानोंपर, लोकपालोंकी पुरियोंमें तथा सुमेरुके उपवनोंकी कुञ्जोंमें देवांगनाओंके साथ क्रीडा करता है। इसके पश्चात् भोगद्वारा पूर्वकृत सुकृत और दुष्कृतोंका क्षय हो जानेपर वे योगिजन पृथिवीमें पवित्र श्रीमान् और पुण्यात्मा सत्पुरुषोंके सुरक्षित घरोंमें जन्म लेते हैं तथा योगकी वासनासे युक्त होनेके कारण वहाँ जन्म लेकर योगका ही सेवन करते हैं। तब वे विद्वान् पूर्वभावनासे अभ्यास किये हुए भूमिकाक्रमका अनुभव करके आगेके भूमिकाक्रमपर उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं।'

(२) यहाँ पूर्वसञ्चित भोगवासनाकी प्रबलतासे थोड़े समयतक अभ्यास की हुई वैराग्यवासनाकी दुर्बलताके कारण प्राणत्यागके समय जिसकी भोगवासना प्रकट हो गयी है ऐसा जो समस्त कर्मोंका त्याग करनेवाला है वही कहा गया है। किन्तु वैराग्यवासनाकी प्रबलताके कारण उत्कृष्ट पुण्यसे प्रकट हुई भगवत्कृपाके कारण जिसे प्राणपरित्यागके समय भोगवासना प्रकट नहीं हुई है वह संन्यासी तो भोगोंके व्यवधानके बिना ही

विनैव ब्राह्मणानामेव ब्रह्मविदां सर्वप्रमादकारणशून्ये कुले समुत्पन्नस्तस्य प्राक्तनसंस्काराभिव्यक्तेरनायासेनैव संभवाच्चास्ति पूर्वस्यैव मोक्षं प्रत्याशङ्केति स वसिष्ठेन नोक्तो भगवता तु परमकारुणिकेनायमेति पक्षान्तरं कृत्वोक्त एव। स्पष्टमन्यत्॥ ४३॥

(१) ननु यो ब्रह्मविदां ब्राह्मणानां सर्वप्रमादकारणशून्ये कुले समुत्पन्नस्तस्य मध्ये विषयभोगव्यवधानाभावादव्यवहितप्राग्भवीयसंस्कारोद्बोधात्पुनरपि सर्वकर्मसंन्यासपूर्वको ज्ञानसाधनलाभो भवतु नाम। यस्तु श्रीमतां महाराजचक्रवर्तिनां कुले बहुविधविषयभोगव्यवधानेनोत्पन्नस्तस्य विषयभोगवासनाप्राबल्यात्प्रमादकारणसंभवाच्च कथमतिव्यवहितज्ञानसंस्कारोद्बोधः क्षत्रियत्वेन सर्वकर्मसंन्यासानर्हस्य कथं वा ज्ञानसाधनलाभ इति। तत्रोच्यते—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥

(२) अतिचिरव्यवहितजन्मोपचितेनापि तेनैव पूर्वाभ्यासेन प्रागर्जितज्ञानसंस्कारेणावशोऽपि मोक्षसाधनायाप्रयतमानोऽपि ह्रियते स्ववशी क्रियते, अकस्मादेव भोगवासनाभ्यो व्युत्थाप्य मोक्षसाधनोन्मुखः क्रियते, ज्ञानवासनाया एवाल्पकालाभ्यस्ताया अपि वस्तुविषयत्वेनावस्तुविषयाभ्यो भोगवासनाभ्यः प्राबल्यात्। पश्य यथा त्वमेव युद्धे प्रवृत्तो ज्ञानायाप्रयतमानोऽपि पूर्वसंस्कारप्राब-

प्रमादके समस्त कारणोंसे शून्य ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंके ही कुलमें उत्पन्न होता है। उसके पूर्व संस्कारोंकी अभिव्यक्ति अनायास ही होनी सम्भव है, इसलिये पूर्वोक्त संन्यासीके समान उसका मोक्ष होनेमें शंका नहीं है। इसलिए वसिष्ठजीने उसका उल्लेख नहीं किया। परमकारुणिक भगवान्‌ने तो 'अथवा' इस प्रकार पक्षान्तर करके उसका उल्लेख किया ही है। शेष सब स्पष्ट है॥ ४३॥

(१) 'जो प्रमादके समस्त कारणोंसे शून्य ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंके कुलमें उत्पन्न हुआ है उसे तो बीचमें विषयभोगरूप व्यवधान न रहनेके कारण अव्यवहित पूर्वजन्मके संस्कारोंके जग जानेसे फिर भी समस्त कर्मोंके संन्यासपूर्वक ज्ञानके साधनोंकी प्राप्ति हो सकती है; किन्तु जो श्रीमान् चक्रवर्ती महाराजोंके कुलमें अनेक प्रकारके विषयभोगरूप व्यवधानसे युक्त होकर उत्पन्न हुआ है उसमें विषयभोगकी वासनाओंकी प्रबलता होनेके कारण तथा प्रमादके कारणोंकी सम्भावना होनेसे अत्यन्त व्यवधानयुक्त ज्ञानके संस्कारोंकी जागृति कैसे हो सकती है? तथा क्षत्रिय होनेसे सर्वकर्मसंन्यासका अधिकारी न होनेके कारण ज्ञानके साधनोंकी प्राप्ति भी कैसे होगी?' ऐसी यदि शंका हो तो उसपर यह कहा जाता है—

[श्लोकार्थः—वह योगभ्रष्ट पुरुष उस पूर्वजन्मके अभ्याससे ही विवश हो कर [योग की ओर] खिंच जाता है और योगका जिज्ञासु होनेपर भी कर्म प्रतिपादक वेदका उल्लङ्घन कर जाता है॥ ४४॥

(२) बहुत लम्बे व्यवधानयुक्त जन्ममें सञ्चित हुए उसी पूर्वाभ्यास अर्थात् पहले उपार्जन किए हुए ज्ञानके संस्कारसे अवश होकर अर्थात् मोक्षप्राप्तिके लिये यत्न न करनेपर भी हर लिया जाता-अपने अधीन कर लिया जाता है। वह अकस्मात् ही भोगवासनाओंसे हटाकर मोक्षसाधनोंके सम्मुख कर दिया जाता है। क्योंकि थोड़े समयतक अभ्यास की हुई होनेपर भी यथार्थ-वस्तुविषयिनी होनेसे ज्ञानकी वासना ही अवस्तुविषयिनी भोग-

ल्यादकस्मादेव रणभूमौ ज्ञानोन्मुखोऽभूरिति । अत एव प्रागुक्तं नेहाभिक्रमनाशोऽस्तीति । अनेकजन्मसहस्रव्यवहितोऽपि ज्ञानसंस्कारः स्वकार्यं करोत्येव सर्वविरोध्युपमर्देनेत्यभिप्रायः ।

(१) सर्वकर्मसंन्यासाभावेऽपि हि क्षत्रियस्य ज्ञानाधिकारः स्थित एव । यथा पाटच्चरेण बहूनां रक्षिणां मध्ये विद्यमानमपि अश्वादिद्रव्यं स्वयमनिच्छदपि तान्सर्वानभिभूय स्वसामर्थ्यविशेषादेवापह्रियते । पश्चात्तु कदाऽपहृतमिति विमर्शं भवति । एवं बहूनां ज्ञानप्रतिबन्धकानां मध्ये विद्यमानोऽपि योगभ्रष्टः स्वयमनिच्छन्नपि ज्ञानसंस्कारेण बलवता स्वसामर्थ्यविशेषादेव सर्वान्प्रतिबन्धकानभिभूयाऽऽत्मवशी क्रियत इति हृजः प्रयोगेण सूचितम् । अत एव संस्कारप्राबल्याज्जिज्ञासुर्ज्ञातुमिच्छुरपि योगस्य मोक्षसाधनज्ञानस्य विषयं ब्रह्म, प्रथमभूमिकायां स्थितः संन्यासीति यावत् । सोऽपि तस्यामेव भूमिकायां मृतोऽन्तराले बहुन्विषयान्भुक्त्वा महाराजचक्रवर्तिनां कुले समुत्पन्नोऽपि योगभ्रष्टः प्रागुपचितज्ञानसंस्कारप्राबल्यात्तस्मिञ्जन्मनि शब्दब्रह्म वेदं कर्मप्रतिपादकमतिवर्ततेऽतिक्रम्य तिष्ठति कर्माधिकारातिक्रमेण ज्ञानाधिकारी भवतीत्यर्थः । एतेनापि ज्ञानकर्मसमुच्चयो निराकृत इति द्रष्टव्यं, समुच्चये हि ज्ञानिनोऽपि कर्मकाण्डातिक्रमाभावात् ॥ ४४ ॥

(२) यदा चैवं प्रथमभूमिकायां मृतोऽपि अनेकभोगवासनाव्यवहितमपि विविधप्रमादकारणवति महाराजकुलेऽपि जन्म लब्ध्वाऽपि योगभ्रष्टः पूर्वोपचितज्ञानसंस्कारप्राबल्येन कर्माधिकारमतिक्रम्य

वासनाओंसे प्रबल होती है । देखो, तुम भी युद्धके लिये प्रयत्नशील होकर तथा ज्ञानके लिये प्रयत्न न करनेपर भी पूर्वसंस्कारोंकी प्रबलता से अकस्मात् ही रणभूमिमें ज्ञानोन्मुख हो गये हो । इसीसे पहले (२।४० में) कहा है कि इसमें क्रमविकासका नाश नहीं होता । तात्पर्य यह है कि ज्ञानका संस्कार अनेकों सहस्र जन्मोंका व्यवधान होनेपर भी अपने समस्त विरोधियोंको दबाकर अपना कार्य करता ही है ।

(१) सर्वकर्मसंन्यास न होनेपर भी क्षत्रियका ज्ञानमें अधिकार तो निश्चित ही है । जिस प्रकार चोर बहुतसे रक्षकोंके बीचमें विद्यमान घोड़े आदि द्रव्यको इच्छा न होनेपर भी अपने समर्थ्यसे ही उन सबको चकमा देकर चुरा लेता है, पीछे ही उन लोगोंमें इसका विचार होता है कि वह द्रव्य कब चुरा लिया गया उसी प्रकार ज्ञानके अनेकों प्रतिबन्धकोंके बीचमें रहनेपर भी योगभ्रष्टको उसकी इच्छा न होनेपर भी ज्ञानके बलवान् संस्कार अपने सामर्थ्यविशेषसे ही समस्त प्रतिबन्धोंका पराभव कर अपने वशमें कर लेते हैं—यह बात 'हृ' धातुके प्रयोग द्वारा सूचित की गयी है । इसीसे ज्ञानके संस्कारोंकी प्रबलता होनेके कारण जिज्ञासु अर्थात् योग यानी मोक्षसाधन ज्ञानके विषय ब्रह्मको जाननेकी इच्छावाला होनेपर भी अर्थात् जो प्रथम भूमिकामें स्थित संन्यासी ही है वह भी उसी भूमिकामें मरकर बीचमें अनेकों विषयोंको भोगकर तथा चक्रवर्ती महाराजोंके कुलमें उत्पन्न होकर भी वह योगभ्रष्ट पहले सञ्चित किये हुए ज्ञानके संस्कारों की प्रबलता से उस जन्ममें शब्दब्रह्म—कर्मप्रतिपादक वेदका अतिवर्तन—अतिक्रमण करके स्थित होता है । तात्पर्य यह है कि कर्माधिकारका अतिक्रमण करके वह ज्ञानका अधिकारी हो जाता है । इससे भी यह समझना चाहिये कि ज्ञान और कर्मके समुच्चयका निराकरण ही किया गया है, क्योंकि यदि इनका समुच्चय होता तो ज्ञानीके लिये भी कर्मकाण्डका अतिक्रमण करना सम्भव नहीं था ॥ ४४ ॥

(२) जब कि इस प्रकार प्रथम भूमिकामें मरनेपर, अनेक भोगवासनाओंके व्यवधानयुक्त होनेपर और प्रमादके अनेकों कारणोंसे युक्त महाराजोंके कुलमें जन्म पाकर भी योगभ्रष्ट पुरुष पूर्वसञ्चित ज्ञानके संस्कारोंकी प्रबलतासे कर्माधिकारका अतिक्रमण

ज्ञानाधिकारी भवति तदा किमु वक्तव्यं द्वितीयायां तृतीयायां वा भूमिकायां मृतो विषयभोगान्ते लब्धमहाराजकुलजन्मा यदि वा भोगमकृत्वैव लब्धब्रह्मविद्ब्राह्मणकुलजन्मा योगभ्रष्टः कर्माधिकारातिक्रमेण ज्ञानाधिकारी भूत्वा तत्साधनानि संपाद्य तत्फललाभेन संसारबन्धनान्मुच्यत इति । तदेतदाह—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

(१) प्रयत्नात्पूर्वकृतादप्यधिकमधिकं यतमानः प्रयत्नातिरेकं कुर्वन्योगी पूर्वोपचितसंस्कारवांस्तेनैव योगप्रयत्नपुण्येन संशुद्धकिल्बिषो धौतज्ञानप्रतिबन्धकपापमलः । अत एव संस्कारोपचयात्पुण्योपचयाच्चानेकैर्जन्मभिः संसिद्धः—संस्कारातिरेकेण पुण्यातिरेकेण च प्राप्तचरमजन्मा ततः साधनपरिपाकाद्याति परां प्रकृष्टां गतिं मुक्तिम् । नास्त्येवात्र कश्चित्संशय इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

(२) इदानीं योगी स्तूयतेऽर्जुनं प्रति श्रद्धातिशयोत्पादनपूर्वकं योगं विधातुम्—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

(३) तपस्विभ्यः कृच्छ्रचान्द्रायणादितपः परायणेभ्योऽपि अधिक उत्कृष्टो योगी तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं मनोनाशवासनाक्षयकारी ।

करके ज्ञानका अधिकारी हो जाता है तो दूसरी या तीसरी भूमिकामें मरकर महाराजोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष विषयभोगके अन्तमें अथवा ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंके कुलमें जन्म लेनेवाला विषयभोग किये बिना ही कर्माधिकार के अतिक्रमणपूर्वक ज्ञानका अधिकारी होकर उसके साधनोंका सम्पादन कर उसके फलकी प्राप्तिद्वारा संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है—इसमें तो कहना ही क्या है ? यही बात यहाँ कहते हैं—

[श्लोकार्थः—पहले किये हुए यत्नसे भी अधिकाधिक यत्न करनेवाला योगी पापरूप मलके धुल जानेपर अनेकजन्मोंके संस्कार और पुण्योंका सञ्चय होनेसे चरम जन्मकी प्राप्ति होनेपर साधनोंका परिपाक होनेसे परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥]

(१) प्रयत्नसे अर्थात् पहले किये हुए यत्नसे भी अधिक-अधिक यत्न करनेवाला यानी अतिशय प्रयत्न करनेवाला पूर्वसंचित संस्कारोंवाला योगी उस योगप्रयत्नरूप पुण्यके प्रभावसे ही संशुद्धकिल्बिष—ज्ञानके प्रतिबन्धक पापरूप मलके धुल जानेसे और इसी कारण ज्ञान-संस्कारों और पुण्योंका सञ्चय होनेसे अनेकों जन्मोंमें संसिद्ध—संस्कारोंकी अधिकता और पुण्यकी अधिकतासे जिसे चरम जन्म प्राप्त हुआ है ऐसा होकर फिर साधनोंका परिपाक होनेसे परा—प्रकृष्ट गति अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होता है । तात्पर्य यह है कि इस विषयमें कोई भी सन्देह नहीं है ॥ ४५ ॥

(२) अब अत्यन्त श्रद्धा उत्पन्न करते हुए योगका विधान करनेके लिये अर्जुनके प्रति योगकी स्तुति की जाती है—

[श्लोकार्थः—अर्जुन ! योगी तपस्वियोंसे बढ़कर है और ज्ञानियोंसे भी विशेष माना गया है तथा वह कर्मियोंसे भी श्रेष्ठ है; इसलिये तुम योगी हो जाओ ॥ ४६ ॥

(३) योगी अर्थात् तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिके पश्चात् मनोनाश और वासनाक्षय करने वाला पुरुष तपस्वियों यानी कृच्छ्र एवं चान्द्रायण आदि तपोंमें लगे हुओंकी अपेक्षा भी

'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥ इति श्रुतेः ।

अत एव कर्मिभ्यो दक्षिणासहितज्योतिष्टोमादिकर्मानुष्ठायिभ्यश्चाधिको योगी, कर्मिणां तपस्विनां चाज्ञत्वेन मोक्षानर्हत्वात् ।

(१) ज्ञानिभ्योऽपि परोक्षज्ञानवद्भ्योऽपि अपरोक्षज्ञानवानधिको मतो योगी । एवम्-परोक्षज्ञानवद्भ्योऽपि मनोनाशवासनाक्षयाभावादजीवन्मुक्तेभ्यो मनोनाशवासनाक्षयवत्त्वेन जीवन्मुक्तो योग्यधिको मतो मम संमतः । यस्मादेवं तस्मादधिकाधिकप्रयत्नबलात्त्वं योगभ्रष्ट इदानीं तत्त्वज्ञान-मनोनाशवासनाक्षयैर्युगपत्संपादितैर्योगी जीवन्मुक्तो यः स योगी परमो मत इति प्रागुक्तः स तादृशो भव साधनपरिपाकात्, हेऽर्जुनेति शुद्धेति संबोधनार्थः ॥ ४६ ॥

(२) इदानीं सर्वयोगिश्रेष्ठं योगिनं वदन्नध्यायमुपसंहरति—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवाद आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(३) योगिनां वसुरुद्रादित्यादिक्षुद्रदेवताभक्तानां सर्वेषामपि मध्ये मयि भगवति वासुदेवे पुण्यपरिपाकविशेषाद्भवतेन प्रीतिवशान्निविष्टेन मद्गतेनान्तरात्मनाऽन्तःकरणेन प्राग्भवीयसंस्कारपाटवा-

---

अधिक—उत्कृष्ट हैं; जैसा कि 'ज्ञानके द्वारा उस पदपर आरूढ़ होते हैं, जहाँ समस्त कामनाएँ दूर हो जाती हैं । वहाँ न तो धूममार्गी (कर्मकाण्डी) जा सकते हैं और न अज्ञानी तपस्वी लोग' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । इसीलिये दक्षिणासहित ज्योतिष्टोम आदि कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले कर्मियोंकी अपेक्षा योगी बढ़कर हैं, क्योंकि कर्मी और तपस्वी लोग अज्ञानी होनेके कारण मोक्षके अधिकारी नहीं हैं ।

(१) ज्ञानियों अर्थात् परोक्ष ज्ञानवालोंकी अपेक्षा भी अपरोक्ष ज्ञानवान् योगी विशेष माना गया है । इसी प्रकार मनोनाश और वासनाक्षयशून्य होनेके कारण अपरोक्ष ज्ञानवाले अजीवन्मुक्तोंकी अपेक्षा भी मनोनाश और वासनाक्षयवान् होनेके कारण जीवन्मुक्त योगी अधिक माना गया है अर्थात् उसकी विशेषता मुझे अधिक अभिमत है । क्योंकि ऐसा है, इसलिये योगभ्रष्ट तुम अधिकाधिक प्रयत्नके बलसे अब साधनोंके परिपाक द्वारा ऐसे बनो जैसे तत्त्वज्ञान मनोनाश और वासनाक्षयका जिसने एकसाथ सम्पादन किया है उस जीवन्मुक्त योगीके विषयमें पहले मैंने कहा है कि वह मुझे विशेष अभिमत है । 'हे अर्जुन ! अर्थात् 'हे शुद्ध !' यह सम्बोधनके लिये है ॥ ४६ ॥

(२) अब समस्त योगियोंमें श्रेष्ठ योगीका उल्लेख करते हुए अध्यायका उपसंहार करते हैं—

[श्लोकार्थः—समस्त योगियोंमें भी जो मेरेमें लगे हुए चित्तसे श्रद्धायुक्त होकर मेरा भजन करता है वह युक्ततम है—ऐसा मेरा मत है ॥ ४७ ॥]

(३) योगियों अर्थात् वसु रुद्र और आदित्यादि क्षुद्र देवताओंके सम्पूर्ण भक्तोंमें भी जो विशेष पुण्यपरिपाकके द्वारा मुझ भगवान् वासुदेवमें लगे हुए अर्थात् प्रीतिके कारण

स्साधुसङ्गाच्च मद्भजन एव श्रद्दधानः सन्भजते सेवते सततं चिन्तयति यो मां नारायणमीश्वरेश्वरं सगुणं निर्गुणं वा मनुष्योऽयमीश्वरान्तरसाधारणोऽयमित्यादिभ्रमं हित्वा स एव मद्भक्तो योगी युक्ततमः सर्वेभ्यः समाहितचित्तेभ्यो युक्तेभ्यः श्रेष्ठो मे मम परमेश्वरस्य सर्वज्ञस्य मतो निश्चितः । समानेऽपि योगाभ्यासक्लेशे समानेऽपि भजनायासे मद्भक्तिशून्येभ्यो मद्भक्तस्यैव श्रेष्ठत्वाच्चं मद्भक्तः परमो युक्ततमोऽनायासेन भवितुं शक्यसीति भावः ।

(१) तदनेनाध्यायेन कर्मयोगस्य बुद्धिशुद्धिहेतोर्मर्यादां दर्शयता ततश्च कृतसर्वकर्मसंन्यासस्य साङ्गं योगं विब्रूण्वता मनोनिग्रहोपायं चाऽऽक्षेपनिरासपूर्वकमुपदिशता योगभ्रष्टस्य पुरुषार्थशून्यताशङ्कां च शिथिलयता कर्मकाण्डं त्वंपदार्थनिरूपणं च समापितम् । अतः परं श्रद्धावान्भजते यो मामिति सूचितं भक्तियोगं भजनीयं च भगवन्तं वासुदेवं तत्पदार्थं निरूपयितुमग्रिममध्यायषट्कमारभ्यत इति शिवम् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामध्यात्मयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

मेरे में ही जुड़े हुए आत्मा—अन्तःकरणके द्वारा पूर्वजन्मके संस्कारोंकी प्रबलता एवं साधुसमागमके कारण मेरे भजनमें ही श्रद्धावान् होकर अर्थात् अत्यन्त श्रद्धा रखकर 'यह मनुष्य है, ईश्वरसे भिन्न साधारण जीव है' ऐसे भ्रमको त्यागकर मुझ सगुण या निर्गुण ईश्वर नारायणका ही भजन-सेवन अर्थात् निरन्तर चिन्तन करता है, वह मेरा भक्त योगी ही युक्ततम अर्थात् समस्त समाहितचित्त योगयुक्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ है—ऐसा मुझ सर्वज्ञ परमेश्वरका मत अर्थात् निश्चय है । योगाभ्यासका परिश्रम और भजनका क्लेश समान होनेपर भी मेरी भक्तिसे रहित पुरुषोंकी अपेक्षा मेराभक्त ही श्रेष्ठ है, इसलिये मेरे परम भक्त तुम अनायास ही युक्ततम हो सकते हो—ऐसा इसका भाव है ।

(१) इसप्रकार इस अध्याय द्वारा बुद्धिकी शुद्धिके हेतुभूत कर्मयोगकी मर्यादा दिखाते हुए, फिर जिसने समस्त कर्मोंका संन्यास किया है उसके लिये अंगोंके सहित योगका विवरण करते हुए तथा अर्जुनकी शंकाका निराकरण करके मनोनिग्रहके उपायका उपदेश करते हुए और योगभ्रष्टकी पुरुषार्थ शून्यता सम्बन्धी शंकाको शिथिल करते हुए श्रीभगवान्ने कर्मकाण्ड और त्वंपदार्थके निरूपणकी समाप्ति की है इससे आगे 'श्रद्धावान् भजते यो माम्' इस वाक्यसे सूत्ररूपमें कहे हुए भक्तियोगका और त्वं पदके अर्थ भजनीय भगवान् वासुदेवका निरूपण करनेके लिये आगेके छः अध्यायों का आरम्भ किया जाता है । इति शिवम् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वर सरस्वतीपादशिष्यमधुसूदनसरस्वती-विरचित श्रीमद्भगवद्गीता गूढार्थदीपिका टीकाके हिन्दी भाषान्तर का आत्मसंयमयोग नामक छठा अध्याय ॥ ६ ॥